प्रथम संस्करण सं० २००० वि०
द्वितीय संस्करण सं० २००८ वि०
तृतीय संस्करण सं० २००९ वि०
चतुर्थ संस्करण सं० २०१० वि०

मूल्य ।।।≡)

# वक्तव्य

'प्रसाद' की रूपक-रचनाओं में 'स्कंदगुप्त' का विशेष महत्त्व है। इसमें कृतिकार की प्रतिभा अधिक स्फुट हुई है—रचना-पद्धति के विचार से भी और समष्टि-प्रभाव के आधार पर भी। इसीलिए विवेचना में भी सतर्क एवं प्रमाण-संमत होने की विशेष आवश्यकता दिखाई पड़ी। यों तो इन कृतियों पर लोगों ने थोड़ा-बहुत लिखा है, परंतु वह सब अभीष्ट के अत्यधिक नीचे है। इनका जैसा आधारयुक्त गुणावगुण-विवेचन और वितर्काश्रयी अनुशीलन अपेक्षित है वैसा अभी तक हो नहीं सका। इधर अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र में इन कृतियों का प्रेम उत्तरोत्तर वृद्धि पाता जा रहा है; जिसे देखकर यह आवश्यक प्रतीत होता है कि व्यावसायिक साहित्यिकता से पृथक् विद्वान् समीक्षक सचाई से अपने दायित्व का विचार करें।

प्रस्तुत रचना 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' का एक अंग है। इसमें स्कंदगुप्त नाटक के विविध अवयवों तथा उपादानों की शास्त्रीय समीक्षा है। जहाँ तक हो सका है विषय को तर्क-संगत बनाने की पूरी चेष्टा की गई है; फिर भी अनुशीलन-बुद्धि से प्रेरित होकर

जो कोई भी कुछ मर्म की बात बताएगा मैं उसका उपकार स्वीकार करूँगा। 'प्रसाद' के नाटकों को न तो शुद्ध इतिहास के रूप में देखना चाहिए और न व्यावसायिक रंगमंचों के विचार से। उनके काव्यतत्त्व के आधिक्य पर किसी दोषदर्शी को कुपित नहीं होना चाहिए; क्योंकि वही तो उनका प्राण है। इस खंडांश में दोष-कथन प्रायः नहीं मिलेगा। दोषदर्शी के लिए आवश्यक है कि वह अंगी पुस्तक का उपसंहार-अंश देखे। उस स्थल पर संपूर्ण दोषों का भी यथासाध्य विवेचन किया गया है। इस नाटक की भाषा, शैली, संवाद, रंगमंचनीय गुणावगुण इत्यादि पर भी कुछ सामूहिक विचार वहीं मिलेंगे।

एक बात और कहनी है। अध्येता और अध्यापक को चाहिए कि जिस विषय का वे अध्ययन करें उसकी आधारभूत प्रकृति से अवश्य परिचित हो लें; अन्यथा उसका रचना-सौन्दर्य ठीक से समझ में नहीं आवेगा। इसलिए मूल्यांकन के लिए आवश्यक है कि नाट्य-शास्त्र संबंधी सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय। इसके लिए अंगरेजी और हिंदी के किसी प्रतिष्ठित लेखक की कृति का सहारा लिया जा सकता है।

औरंगाबाद, काशी।

जगन्नाथप्रसाद शर्मा

# सूची

स्कंदगुप्त

## इतिहास

चंद्रगुप्त ( द्वितीय ) विक्रमादित्य द्वारा शासित विस्तृत साम्राज्य के उत्तराधिकारी कुमारगुप्त ( प्रथम ) का शासन-काल ईसवी सन् ४१५ के पूर्व आरंभ हो चुका था; क्योंकि उसका स्तंभलेख[1] बिलसद से प्राप्त हुआ है। उसके पूर्वज समुद्रगुप्त और विक्रमादित्य ऐसे वीर शासक थे। उनके द्वारा विजित और सुदृढ़ रूप से नियंत्रित साम्राज्य का अधिकारी कुमारगुप्त हुआ; ऐसी अवस्था में उसे न तो किसी विशेष प्रकार की नवीन व्यवस्था-प्रणाली स्थापित करनी पड़ी और न अन्य कोई राजनीतिक उद्यम प्रकट करने का अवसर मिला। चारों ओर शांति विराज रही थी। प्रजा शांत और संपन्न थी। यही कारण है कि कला-कौशल एवं साहित्य, विज्ञान इत्यादि की उस समय विशेष श्रीवृद्धि हुई और वह काल भारतवर्ष का स्वर्ण-युग कहलाया।

इतना होने पर भी वस्तु-विचार का परिणाम यही निकलता है कि कुमारगुप्त ( प्रथम ) दुर्बल और विलासी शासक था[2], भले ही उसने पूर्वजों द्वारा प्राप्त शांति-ऐश्वर्य का संरक्षण तीन-चार दशकों तक किया हो। उसकी दुर्बलता और विलासिता के दो

---

१ Fleet, Corpus Inscriptionum Indicarum Vol. III. Plate No. 10.

२ The Age of the Imperial Guptas by R. D. Banerji ( 1933 ), p. 40.

प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उसकी वीरता एवं पराक्रम का कोई भी राज-नीतिक प्रमाण नहीं प्राप्त है, यों तो तत्कालीन प्रशस्तिकारों ने अवश्य ही अपने प्रभु के प्रीत्यर्थ बहुत कुछ लिखा है; साथ ही उसके नाम के आगे-पीछे विरुदवाची उपाधियों की भी कमी नहीं है[१]। उसके जीवन की प्रमुख घटनाएँ हैं, एक अश्वमेध यज्ञ और दूसरी पुष्यमित्रों का युद्ध। अश्वमेध यज्ञ की बात उसकी स्वर्ण-मुद्राओं[२] से सिद्ध होती है और युद्ध की बात भितरीवाले शिला-लेख[३] से।

कुमारगुप्त यथासाध्य सफलतापूर्वक अपने राज्य का नियंत्रण करता रहा। उसके प्रांत-पति सदैव उसके सहायक रहे। दशपुर नगरी मालवा प्रांत की राजधानी थी। लाट-देश के कलाविद् वैश्यों के नवागमन से यह नगरी श्री-संपन्न हो गई थी। विश्वकर्मा का योग्य और वीर पुत्र नृपति बंधुवर्मा वहाँ का शासन करता था। इस विषय में महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री का यह कथन[४] अन्य इतिहास पंडित[५] नहीं मानते कि विश्वकर्मा और उसके पिता नरवर्मा ने गुप्तों की अधीनता नहीं स्वीकार की।

१ Political History of Ancient India by Hemchandra Ray Chaudhuri ( 1932 ), p. 384, foot note 1.

२ A Catalogue of the Indian Coins in the British Museum ( 1914 ), p. 43 and pt. XII. 13, 14.

३ Fleet, C. I. I. Vol. III, No. 13.

४ Indian Antiquary ( 1913 ), p. 218.

५ The History of North Eastern India by Radhagovind Basak ( 1934 ), p. 48-9.

अधिकतर विद्वान् यही स्वीकार करते हैं कि बंधुवर्मा कुमारगुप्त ( प्रथम ) का प्रतिनिधि-शासक था न कि स्वतंत्र अधिपति, जैसा कि कुमारगुप्त ( प्रथम ) के मंदसोरवाले शिलालेख से स्पष्ट है[1]। फैजाबाद जिले के कमरदंडा नामक स्थान से मिले लेख[2] के आधार पर ज्ञात होता है कि पृथिवीषेण पहले मंत्रिपद पर था और पीछे कुमारगुप्त ( प्रथम ) ने उसे महाबलाधिकृत-पद पर आसीन किया। अतिपूर्व में पुंड्रवर्धन ( उत्तरी बंगाल ) भी गुप्त-साम्राज्य के अंतर्गत था, जिसका उपरिक ( प्रांतपति ) चिरातदत्त था। इस प्रकार देशों के लिए अपने प्रतिनिधि नियुक्त कर कुमारगुप्त बंगाल से लेकर सौराष्ट्र तक और हिमालय से नर्मदा तक के साम्राज्य का तैंतालीस वर्षों तक शासन करता रहा।

गुप्तकालीन मुद्राओं एवं शिलालेखों[3] से प्रमाणित होता है कि कुमारगुप्त ( प्रथम ) के उपरांत उसका पुत्र और उत्तराधिकारी[4] स्कंदगुप्त राज्य का स्वामी बना। स्कंद की माता के नाम का कहीं उल्लेख नहीं प्राप्त होता। भितरीवाली राजमुद्रा के आधार पर

---

१ गुप्त-साम्राज्य का इतिहास—श्रीवासुदेव उपाध्याय, द्वि० खंड, प्र० सं०, पृ० ३४५.

२ The History of North Eastern India by Radhagovind Basak ( 1934 ), p. 50-2.

३ Indian Antiquary, V. A. Smith ( 1902 ), p. 266.

४ परमभागवतो महाराजधिराजश्रीकुमारगुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो परमभागवतो महाराजाधिराजश्रीस्कन्दगुप्तः ( Bihar Stone Pillar Inscription of Skandgupta )—Corpus Inscriptionum Indicarum Vol.III, Plate 12, p. 50

कुमारगुप्त ( प्रथम ) और महादेवी अनंतदेवी का पुत्र और उत्तराधिकारी पुरगुप्त माना जाता है[1]। इतिहास के विशेषज्ञों ने विचार किया है कि स्कंदगुप्त सच्चा उत्तराधिकारी नहीं था, और इसलिए उनका कहना है कि उसमें और उसके सौतेले भाई पुरगुप्त में राज्य की अधिकार-प्राप्ति के विषय में युद्ध हुआ था। इस मत का खंडन कुछ विद्वानों[2] ने किया है। इनका विचार है कि कुमारगुप्त के समय में ही स्कंदगुप्त की योग्यता और पराक्रम की जो धाक जम गई थी उसके कारण इस प्रकार का अंतःकलह एवं युद्ध असंभव है। तत्कालीन इतिहास की सच्ची वस्तुस्थिति का विचार करनेपर यह निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि स्कंदगुप्त के अंतिम काल में ही गुप्त-साम्राज्य का पतन आरंभ हो गया था और इसका प्रभाव उसके सिक्कों पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त यह भी निर्विवाद है कि पुरगुप्त के शासन आरंभ करते ही गुप्तों का बंगाल से सौराष्ट्र तक का एकछत्राधिपत्य भंग हो गया था। इसका कारण केवल हूणों का आक्रमण रहा हो ऐसा बुद्धिसंगत नहीं मालूम पड़ता। इन स्थितियों के मूल में अवश्य ही

---

१ महाराजाधिराजकुमारगुप्तस्य तत्पादानुध्यातो महादेव्यां अनन्तदेव्यां उत्पन्नो महाराजाधिराज श्रीपुरगुप्तस्य।—भितरी की राजमुद्रा ( बंगाल एशियाटिक सोसायटी का जर्नल, १८८६ )।

२ ( i ) Political History of Ancient India by Hemchandra Ray Chaudhuri ( 1932 ), p. 386-8.

( ii ) History of North Eastern India by Radhagovind Basak ( 1934 ), p. 62-3.

अंतर्विद्रोह भी रहा होगा। अवश्य ही यह अंतर्विद्रोह स्कंदगुप्त के आरंभिक काल में उग्र और सक्रिय रूप न धारण कर सका हो, जैसा कि राखालदास बैनर्जी का विचार ज्ञात होता है। परंतु कालांतर में जब स्कंद हूणों से युद्ध करने में निरंतर व्यस्त रहने लगा तो संभव है पुरगुप्त ने उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचकर अपने को शासक बनाने का प्रयत्न किया हो। संभवतः इसी अंतर्विद्रोह से दुःखी होकर महाराजपुत्र गोविंदगुप्त पूर्वी प्रांत छोड़कर मालवा में चले आए, जहाँ उनके सन् ४६७–८ ई० तक जीवित रहने का प्रमाण मिलता है[१]। इस विवाद से इतना तो अवश्य ही सत्य ज्ञात होता है कि दोनों भाइयों में विरोध था। अतएव यह मान लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि वीर और उदारचरित स्कंद-गुप्त ने अपने भाई की महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति इस रूप में कर दी हो कि वह दक्षिण विहार में एक छोटा-सा राज्य स्थापित कर शासन करे और इस प्रकार वह उस अंतःकलह को शांत करके यथार्थ राष्ट्रोद्धार के कार्य में तत्पर हुआ हो।

कुमारगुप्त महेंद्रादित्य के अंतिम काल में ही राज्य पर आक्र-मणकारियों के बादल गरजने लगे थे और इससे गुप्त-लक्ष्मी विचलित हो गई थी। ये आक्रमणकारी प्रधानतः पुष्यमित्र थे। यों तो भितरीवाले शिलालेख के 'समुदितबलकोशान्पुष्यमित्रांश्च जित्वा' को लेकर श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा और दिवेकर जी ने एक हलका-सा विवाद खड़ा करने की चेष्टा की थी, परन्तु उनके

---

१ The Age of the Imperial Guptas by R. D. Banerji (1933), p. 52

विरुद्ध सभी इतिहास-पंडितों ने एक स्वर से मान लिया है कि शब्द 'पुष्यमित्र' ही है और कुछ नहीं। परन्तु इस पुष्यमित्र-वंश के विषय में विद्वान् एकमत नहीं हैं। फ्लीट महाशय इन्हें नर्मदा के आस-पास का कहते हैं, हार्नली साहब इनका संबंध मैत्रकों के साथ जोड़कर इन्हें वलभी-वंश के आरंभकर्ता सेनापति भटार्क की अधीनता में मानते हैं। हमारे पुराण भी इन्हें गुप्तों से पूर्व विदेशियों के रूप में स्थान देते हैं१। राखालदास जी इन्हें हूणों का प्रथम स्रोत मानते हैं। हूणों के विषय में कोई संदेह नहीं है। पाँचवी शताब्दी के अंत में यह वंश टिड्डीदल की भाँति संपूर्ण दक्षिण एशिया में फैला दिखाई देता है। एक दल उस ओर रोम-साम्राज्य पर आक्रमण करने गया और दूसरा खिंगिल और तोर-मान की अध्यक्षता में भारत की ओर बढ़ा। यह बर्बर जाति बड़ी निर्दयतापूर्वक अत्याचार करती इस ओर आई और धनधान्य से पूर्ण कपिशा, नगरहार आदि प्रांतों को उच्छिन्न कर डाला। नगर के नगर जला डाले गए, पुरुष-वर्ग कुचल डाला गया और वहाँ की स्त्रियाँ दासी के रूप में गृहीत हुईं। इनकी पाशविक क्रूरताओं से गुप्त-साम्राज्य का समस्त पश्चिमी प्रांत त्रस्त हो उठा।

इन्हीं पुष्यमित्रों और हूणों का आक्रमण गुप्त-साम्राज्य के पूर्णचंद्र के लिए राहु बन गया। कुमारगुप्त (प्रथम) के अंतिम काल में इनके उपद्रवों से गुप्त-श्री विचलित हो गई थी। यह

१ (i) The Early History of India. p. 326. foo tnote.

(ii) Coins of the Gupta Dynasties by J. Allan, p. XLVI.

साम्राज्य के लिए संकट का काल था और गुप्त शासकों के लिए चुनौती थी। समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त के वंशजों के लिए यह परम कर्तव्य हो गया कि वे इस चुनौती को स्वीकार करें। ऐसी अवस्था में अतुल पराक्रमी युवराज स्कंदगुप्त अपने पूर्वजों की कीर्ति को अक्षुण्ण बनाए रखने के विचार से और शुद्ध कर्तव्य-बुद्धि से प्रेरित होकर, इस राष्ट्रीय महाआपत्ति के उन्मूलन में तत्पर हुआ। महादेव-पुत्र स्कंद—देवसेनापति कार्त्तिकेय—की भाँति ही वीर स्कंदगुप्त ने म्लेच्छों का पूर्ण विध्वंस किया और संपूर्ण मालव तथा सौराष्ट्र को ही इस संकट से नहीं बचाया अपितु विचलित हुई कुललक्ष्मी की पुनः स्थापना कर दी। ऐसा करने में उसे बड़ा कठोर और संयत जीवन व्यतीत करना पड़ा था। वह धन-बल-संपन्न पुष्यमित्रों को पूर्णतया परास्त कर राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हुआ[1]। वह पिता की मृत्यु के कारण शासन-भार स्वीकार करके, अपने भुजबल से शत्रुओं को जीत और वंश-गौरव की मर्यादा पुनःस्थापित कर आनंदाश्रु-पूर्ण अपनी जीवित माता की अभ्यर्थना के लिए वैसे ही पहुँचा जैसे अपने शत्रुओं का हनन कर श्रीकृष्ण ने देवकी की वंदना की थी। इस प्रकार प्राप्त राज्यश्री

---

१ विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन, क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा। समुदितबलकोशान् पुष्यमित्रांश्च जित्वा, क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः—भितरी का स्तंभलेख, पंक्ति १०—Corpus Inscriptionum Indicarum Vol. III, p. 53-4.

को देख ऐसा मालूम हुआ मानों लक्ष्मी ने स्वयं उसे वरण किया हो[1]।

इतिहास की इस घटना का साहित्यिक रूप सोमदेव के कथा-सरित्सागर (विषमशील लंबक) में भी प्राप्त होता है। उसमें भी उज्जैन का नृपति महेंद्रादित्य कहा गया है। उसका पुत्र विक्रमादित्य—विषमशील—था, जो शिव के प्रसाद-स्वरूप प्राप्त हुआ था; क्योंकि उस समय म्लेच्छों का उपद्रव भीषण रूप से चल रहा था और उनसे लोग त्रस्त थे। इस विक्रमादित्य ने म्लेच्छों का संहार किया और स्वयं उज्जयिनी नगरी में आया था[2]। इस कथा और स्कंदगुप्त के इतिहास में अत्यधिक समानता

---

१ (i) पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीम्,
　　　　भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः।
　　जितमिति परितोषान्मातरं सास्रनेत्राम्,
　　　　हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः।

—भितरी का स्तंभलेख, पंक्ति १२।

(ii) व्यपेत्यसर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान्, लक्ष्मीः स्वयं यं वरयांचकार।
　　—जूनागढ़ का शिलालेख, पंक्ति ५।

२ महेन्द्रादित्य इत्यासीद्राजा········। सोमदेवकृत कथासरित्सागर, विषमशील लंबक, प्रथम तरंग, श्लोक ११।
म्लेच्छाक्रान्ते च भूलोके···। —वही, श्लोक २२।
नाम्नाचं विक्रमादित्यं हरोक्तेनाकरोत्पिता।

है, भले ही कथा में काव्यात्मक पद्धति के कारण अन्य असंवद्ध बातें भी आ गई हों। कुमारगुप्त के महेंद्रादित्य, स्कंदगुप्त के विक्रमादित्य होने और स्कंदगुप्त के म्लेच्छ-संहार करने तथा उज्जैन में उपस्थित होने के विषय में विवाद नहीं हो सकता। अन्य लेखकों[1] ने भी इस मत का समर्थन किया है।

पुष्यमित्रों की पराजय के उपरांत भी स्कंदगुप्त को साँस लेने का अवसर नहीं मिला। उसके सिंहासन पर बैठते ही बर्बर हूणों के अत्याचार और आक्रमण आरंभ हुए। सारा पश्चिमोत्तर प्रांत त्रस्त हो उठा। इस पर पुनः वीर स्कंदगुप्त ने अपने अलौकिक पराक्रम का उत्कट प्रदर्शन किया। संभवतः भितरी के स्तंभ-लेख की चौदहवीं पंक्ति से आगे इसी स्थिति का वर्णन है; क्योंकि मालिनी के उपरांत जहाँ से शार्दूलविक्रीड़ित छंद आरंभ होता है वहाँ से ऐसा ही मालूम पड़ता है कि यह कुछ पृथक् विषय ही आरंभ हो रहा है। मालिनी छंद तक पुष्यमित्रों के युद्ध और

---

तथा विषमशीलं च महेन्द्रादित्यभूपतिः। —वही, श्लोक ५१।

स राजा विक्रमादित्यः प्राप चोज्जयिनीं पुरीम्। —वही, तृतीय तरंग, श्लोक ७।

१ (i) A Catalogue of the Indian Coins in the British Museum (1914) by Allan, Introduction, p. 99.

(ii) गुप्त-साम्राज्य का इतिहास—श्रीवासुदेव उपाध्याय, प्रथम खंड, पृ० ११६।

(iii) Political History of Ancient India (1932) by Hemchandra Ray Chaudhuri, p. 389.

उसके परिणाम-प्रभाव का वृत्त चलता है और उसके उपरांत ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है कि किसी दूसरे प्रसंग की बात आरंभ हुई है। अपने बाहुबल से पृथ्वी को जीतकर, विजितों पर दया की वर्षा कर निरभिमान रूप से स्कन्द ने वंश मर्यादा स्थापित की थी; परंतु फिर भी आततायियों की ललकार सुनते ही पुनः उठा और अपने कर्तव्य-पालन में लग गया। उक्त स्तंभलेख की पंद्रहवीं पंक्ति में उसके उसी घोर युद्ध का वर्णन है[1]। उस युद्ध में भी उसी को विजय-लक्ष्मी प्राप्त हुई और एक बार फिर से राष्ट्र का उद्धार हो गया। इसके उपरांत भी उसे युद्ध करने पड़े थे और संभवतः युद्ध में ही उसकी मृत्यु भी हुई।

स्कंदगुप्त की प्रशस्त विरुदावली के साथ-साथ उसकी अनेक उपाधियाँ भी थीं। उसकी साधारण प्रयुक्त उपाधि क्रमादित्य थी, परंतु कुछ रजत-मुद्राओं पर उसके दादा द्वारा गृहीत पदवी विक्रमादित्य भी प्राप्त होती है[2]। इन्दौर के ताम्रपत्र[3] के अनुसार उसकी पदवी 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' थी और कहूम स्तंभलेख[4] में उसे 'क्षितिपशतपति' कहा गया है।

गुप्त-साम्राज्य के इस यशस्वी सम्राट् ने अपने पिता से प्राप्त

---

१ हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता। —भितरी का स्तंभ-लेख, पंक्ति १५।

२ Gupta Coins by Allan, Introduction,, p. XLVIII.

३ Fleet, C. I. I. Vol. III, plate No. 16.

४ —वही p. 67. plate No. 15.

विशाल राष्ट्र को शक्ति और बुद्धि-बल से भली भाँति नियंत्रित कर रखा था और अपने विस्तृत राज्य को कई प्रांतों में विभाजित कर प्रांतपतियों ( गोप्ताओं ) की देखभाल में रख छोड़ा था[1]। उस समय सौराष्ट्र पर विशेष ध्यान दिया गया था; क्योंकि उसकी राजनीतिक महत्ता थी। अतएव उस प्रांत में शासन के लिए स्कंदगुप्त को विशेष रूप से विचार करना पड़ा था, ऐसा जूनागढ़ के शिलालेख से स्पष्ट है। बहुत सोच-विचार के उपरांत वहाँ का गोप्ता पर्णदत्त नियुक्त किया गया था, क्योंकि वह सम्राट् का विश्वसनीय सहयोगी समझा गया[2]। इसी के पुत्र और गिरनार के विषयपति चक्रपालित ने सुदर्शन झील का पुनरुद्धार कराया था, जो स्कंदगुप्त के शासन-काल की एक प्रसिद्ध घटना है। गंगा-जमुना के मध्य का प्रांत अंतर्वेदी के नाम से प्रसिद्ध था। इस प्रांत का शासक शर्वनाग था[3] और यह प्रांत सीधे सम्राट् के अधीन माना जाता था। इसी प्रकार कोसम प्रांत भीमवर्मा के अधिकार में था[4]। स्कंदगुप्त अपने पूर्वजों की भाँति ही वीर एवं पराक्रमी था। भितरी और जूनागढ़

१ सर्वेषु देशेषु विधाय गोप्तृन् सचिन्तयामास बहुप्रकारम्। —जूनागढ़ का शिलालेख, पंक्ति ६। —वही p. 59, plate No. 14.

२ आम् ज्ञातमेकः खलु पर्णदत्तो भारस्य तस्योद्वहने समर्थः। —वही, पंक्ति ८।

३ विषयपतिशर्वनागस्य अन्तर्वेद्यां भोगाभिवृद्धये वर्त्तमाने। —इंदौर का ताम्रपत्र, पंक्ति ४, (Fleet, C. I. I. p, 70, plate No. 16.)

४ कोसम की प्रस्तर-मूर्ति का लेख—Fleet, C. I. I. p. 267, plate No. 65.

के लेखों के आधार पर उसकी चरित्र-विषयक विशेषताओं का विशद विवेचन किया जा सकता है। उसमें अलौकिक पराक्रम के अतिरिक्त हृदय की मानव-भावनाएँ भी वर्तमान थीं। शक्ति के साथ विनय-सुनीति, वीरभाव के साथ करुणा-दया, विजय के साथ लोक-संरक्षण की भी अद्भुत प्रवृत्ति उसमें दिखाई पड़ती थी। उसकी देवोपम उदारता, त्याग और कष्ट-सहिष्णुता इतिहास में प्रसिद्ध है उसके राजनीतिक जीवन में धार्मिक उदारता का भाव सर्वत्र मिलता है और उसके हृदय में विभिन्न मतावलंबियों के प्रति सद्भाव था।

प्राचीन काल में गुप्त-साम्राज्य अपनी सुख-शांति एवं कला-कौशल के लिए अत्यंत प्रसिद्ध था। उस समय संस्कृत-साहित्य की भी विशेष रूप से अभिवृद्धि हुई। अनेक सुंदर और श्रेष्ठ कृतिकार साहित्य के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। उनमें सर्वश्रेष्ठ एवं जगद्वंद्य कवि कालिदास की भी गणना की जाती है; परंतु आज तक उनके रचना-काल का निर्विवाद निर्णय नहीं हो सका है। कुछ विद्वानों का कहना है कि उनकी कृतियाँ ईसवी सन् के पूर्व प्रथम शतक में निर्मित हुईं, कुछ लोग उन्हें गुप्तकालीन मानते हैं और तृतीय दल उन्हें और पीछे ले जाकर छठीं शताब्दी में स्थान देता है[1]। इस

---

१ इस विषय पर निम्नलिखित ग्रंथों से विचार संग्रह किए जा सकते हैं—

(i) On the Sanskrit poet Kalidas by Bhao Daji—Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society, January 1861, p. 19-33 and 207-230.

(ii) Kalidas by M. M. Hara Prasad Shastri—Journal of the

प्रकार अपने-अपने अनुकूल तर्कों को ढूँढ़कर प्रत्येक दल उन्हें अपनी ओर खींच रहा है।

यों तो सभी अपनी तर्क-बुद्धि के अनुसार इस कवि के समयनिर्धारण का प्रयास कर रहे हैं, परंतु अभी तक जिस दल को अधिक महत्व मिला है वह कालिदास को गुप्त-काल का मानता है। अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने इस काल-निर्णय को उचित माना है। देश की सुख-समृद्धि, उद्यम-उत्साह वैभव-विलास और राजनीतिक व्यवस्था का जैसा रूप गुप्त-काल

---

Bihar and Orissa Research Society Vol.I (1915) p. 197.— and Vol II. (1916) p. 31-44 and 179-189.

(iii) Introduction to Raghuvansh by Nandargikar.

(iv) The Early History of India by V. A. Smith ( 1924 ). p. 320-1.

(v) Introduction to Kumarasambhava (1923) by M.R. Kale.

(vi) संस्कृतकविचर्चा—श्रीबलदेव उपाध्याय ( कालिदास, मातृ-गुप्ताचार्य और कुमारदास ) ।

(vii) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—श्रीगंगाप्रसाद मेहता, १९३२, पृ० १०६, ११५।

(viii) गुप्त-साम्राज्य का इतिहास—श्रीवासुदेव उपाध्याय, द्वितीय खंड, पृ० ९१, ११२.

(ix) The Date of Kalidas by B. C. Mazumdar (Journal of Royal Asiatic Society, 1909, p. 731-739 ).

(x) The Date of Kalidas by Kshetreshchandra Chattopadhpaya

(xi) Kalidas and Gupta Kings by H. B, Bhide ( First Oriental Conference, Poona Vol. I. p. III ).

में था वैसा ही कालिदास कृत काव्यों में वर्णित है। गुप्त-लेखों और प्रशस्तियों की अभिव्यंजना-पद्धति पर भी कालिदास की छाप दिखाई पड़ती है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक आधारों पर लोगों का यही विचार है कि इस कवि-कुल-गौरव की प्रतिभा का आरंभ शकारि चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य के अंतिम शासनकाल में हुआ, चरमोत्कर्ष कुमारगुप्त (प्रथम) महेंद्रादित्य के समय में और अंत सम्राट् स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के साथ अथवा उपरांत हुआ। यही युग भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग कहलाता है जो कालिदास की काव्य-रचना का अनुकूल क्रीड़ास्थल हो सकता है। तर्क एवं बुद्धि-संगत अधिक प्रमाण इसी पक्ष के उपस्थित किए गए हैं और अब तो प्रायः यह विषय निर्विवाद सा हो चला है। इस विषय में गुप्त-काल को स्वीकार करनेवालों में अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वान् सहमत हैं। साथ ही गुप्त काल के उक्त सम्राटों की शासनसीमा के भीतर कालिदास की स्थिति स्वीकार करनेवालों में मुख्यतः पूना के के० बी० पाठक, विजयचंद्र मजुमदार, श्री सिंडे, श्री काले, विसेंट स्मिथ प्रभृति लेखक हैं। इनमें भी मजुमदार और सिंडे महाशय तो कवि का मुख्य रचनाकाल सम्राट् स्कंदगुप्त के शासनकाल को मानते हैं। इस प्रकार इस कवि का समय ईसवी सन् ३६० से लेकर ४८० तक के भीतर रखा जा सकता है।

कवि कालिदास के साथ ही मातृगुप्ताचार्य का संबंध जोड़ा गया है, जिसका समय औफ्रेक्ट महाशय ने ई० सन् ४३० ठहराया है। डा० भाऊदाजी का एक पुराना मत इस विषय का है।

उनके विचार से कालिदास और मातृगुप्त एक ही व्यक्ति हैं। अपने मत के समर्थन में उन्होंने चार बातें कही हैं। पहली बात इस जनश्रुति पर आश्रित है जिसके अनुसार राजा विक्रमादित्य ने प्रसन्न होकर कालिदास को आधा राज्य दान कर दिया था। दूसरी बात कालिदास और मातृगुप्त नामों के अर्थ-साम्य को लेकर चलाई गई है। तीसरी बात राजतरंगिणी में कालिदास ऐसे श्रेष्ठ कवि का उल्लेखाभाव है। चौथी बात प्राकृत-काव्य 'सेतुबंध' के बल पर उठाई गई है। इस काव्य के टीकाकार ने कहा है कि प्रवरसेन की प्रेरणा से इस काव्य को कालिदास ने निर्मित किया। इस टीकाकार की बात का आंशिक समर्थन बाण भट्ट ने भी अपने हर्षचरित में एक श्लोक—'कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्वला। सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना'—द्वारा किया है। डा० भाऊदाजी के मत के विरुद्ध विद्वानों ने प्रबल प्रमाण उपस्थित किए हैं। इसके अतिरिक्त उस मत का समर्थक भी कोई नहीं हुआ और अब तो वह बात बहुत पीछे छूट गई है। फिर भी यह एक मत चला तो अवश्य, जिसपर कुछ दिन तर्क-वितर्क भी चलते रहे।

इसी प्रकार सिंहल के राजकुमार धातुसेन अथवा कुमारदास का संबंध भी कवि कालिदास के साथ जोड़ा गया है। महावंश के अनुसार इसका शासनकाल ईसवी सन् ५११ से ५२४ तक माना गया है। यह राजकुमार एक सुंदर कवि था। इसके रचित काव्य 'जानकीहरण' की प्रशंसा की गई है। कहा जाता है कि

इस काव्य को सुनकर कालिदास ने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की थी। इसका स्पष्ट कारण तो यही है कि रघुवंश और जानकी-हरण की शैली में बड़ा साम्य है। कालिदास और कुमारदास की मैत्री का कारण भी यही माना जाता है। इस साम्य का निरूपण थोड़े में नंदर्गीकर पंडित ने इस प्रकार किया है—

'His Jankiharana is no doubt a close imitation of Kalidasa's great epic, to which, we may add, it is not inferior either in quality or in quantity. Most of his verses are saturated with the legends of Ramayana and with the style of Kalidas. Kalidasian words, phrases, metres and Alankaras are interwoven in almost every verse of his poem".

विविध विद्वानों ने इन दोनों की घनिष्ठता एवं मैत्री का उल्लेख किया है; परन्तु अन्य विषयों की भाँति इस विषय में भी मत की भिन्नता ही अधिक दिखाई पड़ती है। कुमार धातुसेन और कुमारदास एक ही थे अथवा भिन्न व्यक्ति? वस्तुतः कालिदास और कुमारदास समकालीन थे या नहीं? इन प्रश्नों का कोई एक उत्तर नहीं है।

'दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान्' ( मेघदूत, १४ ) के आधार पर विद्वानों ने कालिदास एवं दिङ्नाग के आगे-पीछे की गुरुपरंपरा में यह क्रम स्थापित किया गया है—मनोरथ के शिष्य वसुबंधु ( ई० सन् ३२० से ५०० तक ), उनके शिष्य

दिङ्नाग (पाँचवी शताब्दी का उत्तरार्ध), फिर उनके शिष्य परमार्थ ( ई० सन् ४९९ से ५६९ तक )।[1] दिङ्नाग के दादागुरु मनोरथ और गुरु वसुबंधु को हूनत्वंग[2] और परमार्थ ने—जिसने वसुबंधु का बृहत् जीवन-वृत्त लिखा है[3]—श्रावस्ती ( संभवतः गुप्त सम्राटों का उत्तरी निवासस्थान ) के विक्रमादित्य का समसामयिक बताया है। गुप्त शासकों के समय में बौद्ध विद्वानों एवं ब्राह्मण आचार्यों में शास्त्रार्थ तथा विवाद होने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। हूनत्वंग ने अपने विवरण में विक्रमादित्य की सभा में ब्राह्मण-मंडली के द्वारा मनोरथ की पराजय का उल्लेख किया है[4]। संभवतः उस मंडली में कुमारगुप्त के आश्रित महाकवि कालिदास भी संमिलित रहे हों और इसलिए प्रतिकार रूप में दिङ्नाग ने आगे चल कर उनका विरोध किया हो।

## साधारण परिचय

रचनापद्धति और नाटकीय गुण के विचार से 'प्रसाद' का सर्वोत्तम नाटक स्कंदगुप्त है। इसमें पाश्चात्य एवं भारतीय नाट्य-शास्त्र के विहित सिद्धान्तों का व्यावहारिक प्रयोग बड़ा अच्छा

---

१ The Journal of the Bombay Branch of R.A.S.Vol, XXIII, p. 158

२ On Yuan Chwang's Travels in India by Thomas Watters Vol. I. p. 210-214,

३ गुप्त-साम्राज्य का इतिहास—श्रीवासुदेव उपाध्याय, द्वितीय खंड, पृ० १४० ।

४ Introduction to Raghuvansh by Nandargikar, p. 79-80.

हुआ है। वस्तुतत्त्व, चरित्रांकन, संवाद और देशकाल का चित्रण इसमें बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है। स्वयं लेखक को अपनी इस रचना से बड़ा संतोष था। संपूर्ण नाटक में पाश्चात्य सिद्धान्त के अनुसार सक्रियता का प्राधान्य है और भारतीय परंपरा के रससिद्धांत का भी सुंदर समन्वय जितना इस कृति में दिखाई पड़ता है उतना और कहीं नहीं। भले ही कुछ लोग काव्यात्मकता के आधिक्य के कारण नाक-भौं सिकोड़ें, परंतु भारतीय नाट्य-परंपरा की विशिष्टताओं से अवगत सहृदय समालोचक अवश्य ही उसका यथार्थ रसास्वादन करते हैं।

## कथांश

गुप्त-साम्राज्य का अधिपति कुमारगुप्त कुसुमपुर में अपना विलासी जीवन व्यतीत कर रहा है। युवराज स्कंदगुप्त गुप्तकुल के उत्तराधिकार नियम की अव्यवस्था के कारण अपने पद एवं दायित्व से कुछ उदासीन और चिंतित रहता है, जिससे साम्राज्य का भविष्य अंधकारपूर्ण दिखाई पड़ता है। इसी समय मालव-राज्य पर विदेशियों का आक्रमण होता है और एकाकी वीर स्कंदगुप्त ठीक अवसर पर पहुँचकर राज्य की रक्षा करता है। इसके उपरांत राजधानी में सम्राट् का निधन और परिणाम-रूप में कौटुंबिक कलह के कारण स्कंदगुप्त मालव का सिंहासन स्वीकार करता है। हूणों के आक्रमण से आर्यावर्त की रक्षा आवश्यक समझकर वह इस अभिषेक के पश्चात् सेना का संगठन करके आक्रमणकारियों का सामना करता है। इसी बीच में उसे

विमाता से उत्पन्न अपने छोटे भाई के कुचक्र को दबाना पड़ता है। युद्ध में साम्राज्य के सेनापति भटार्क की नीचता के कारण हूणों का बढ़ाव नहीं रोका जा सका और स्कंदगुप्त की सेना आपत्ति के गर्त में पड़ जाती है।

कुभा के रणक्षेत्र में स्कंदगुप्त की सेना विच्छिन्न हो जाती है। तदनंतर बड़ी चेष्टा से फिर एक बार सेना का संगठन होता है और गुप्त-साम्राज्य के बचे-बचाए वीर एकत्र होते हैं। स्कंदगुप्त भी गोपाद्रि से बढ़कर सिंधु के समीप आता है। वहाँ दूसरी बार युद्ध होता है और हूण पूर्ण रूप से पराजित होते हैं। इस प्रकार स्कंदगुप्त अपने जीवन-काल में एक बार तो आर्यावर्त को हूणों से निरापद बना ही देता है। नाटक के इस कथांश का समर्थन इतिहास करता है। संपूर्ण घटना-चक्र का उतार-चढ़ाव इतिहास-संमत है।

## वस्तु-तत्त्व और कार्यावस्थाएँ

सारी वस्तुस्थिति एवं घटना-चक्र का विभाजन पाँच अंकों में इस प्रकार किया गया है कि आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशादि कार्य की विभिन्न अवस्थाओं का स्पष्ट बोध होता चलता है। प्रथम अंक में आरंभ नामक कार्यावस्था का बहुत सुंदर स्वरूप है। नाटक का यह अंक परिचयात्मक होता है। इसमें प्रमुख सभी पात्रों की मौलिक विशिष्टताओं का निदर्शन, कुलशील का स्पष्ट निर्देश और फल-समस्या का खुला हुआ उल्लेख आवश्यक रहता है। इसी लिए घटनाओं के संघटन का वेगयुक्त होना अत्यंत अपेक्षित

रहता है। इस सिद्धांत का निर्वाह प्रस्तुत नाटक में बड़ा सुंदर मिलता है। विभिन्न पात्रों के कुल-शील के साथ-साथ प्रधान मनोवृत्तियों का परिचय तो मिलता ही है इसके अतिरिक्त कार्य-व्यापार की अधिकता के कारण आद्यंत आकर्षण भी बना रहता है। यहीं नाटक के लक्ष्य-फल और साध्य विषय का परिचय भी स्पष्ट रूप से प्राप्त हो जाता है।

गुप्त-साम्राज्य की स्थिति बड़ी गंभीर है। गृह-कलह, सम्राट् की कामुकता, युवराज की उदासीनता, महाबलाधिकृत वीरसेन की असामयिक मृत्यु और बर्बर हूणों के लगातार आक्रमणों के कारण साम्राज्य एवं रक्षित राष्ट्र-मंडलों की रक्षा का प्रश्न विकट हो गया है। ऐसी स्थिति में यह एक समस्या उत्पन्न हो गई है कि किस प्रकार साम्राज्य और आर्यावर्त का संमान बचे। इस प्रकार कौटुंबिक कलह की शांति और राष्ट्रगौरव की रक्षा ही वह फल है जिसकी प्राप्ति स्कंदगुप्त तथा उसके अन्य सहयोगियों का लक्ष्य है। लेखक ने इस अंक में साध्य विषय की विषमताओं एवं प्राप्ति के साधनों का आभास बड़ी सावधानी से दिया है। अनंतदेवी, पुरगुप्त और भटार्क के कुचक्र में पड़कर सम्राट् का निधन होता है। साथ ही साम्राज्य के परमहितैषी पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार और दंडनायक आत्महत्या कर लेते हैं। कर्तव्योन्मुख स्कंदगुप्त की चेष्टाओं पर इन व्याघातों का प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। वह महत् उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त अग्रसर होकर मालव-रक्षा में संनद्ध होता है। लक्ष्य-प्राप्ति के साधन का भी यहीं से आरंभ हो जाता है।

अंक की समाप्ति भी बड़े उत्साहवर्धक स्थल पर हुई है। जिस प्रकार नाटकों का आरंभ और अंत आकर्षक तथा प्रभावशाली होना चाहिए उसी प्रकार प्रत्येक अंक की समाप्ति भी ऐसे स्थलों पर आवश्यक है जो लक्ष्य-साधन के सुंदर पड़ाव प्रमाणित हो सकें; जिन अंशों पर पहुँचकर यह स्पष्ट दिखाया जा सके कि उत्कर्ष का यह एक खंड पूरा हुआ। इस स्थल पर आकर जैसे कथानक की खंड-समाप्ति का ज्ञान कराना आवश्यक है उसी प्रकार चरित्र-विकास की आंशिक पूर्णता का आभास देना भी। प्रथम अंक के समाप्ति-स्थल पर इन दोनों विचारों का अच्छा योग है। कार्य की आरंभावस्था को समाप्ति के साथ-साथ चरित्र-विकास और रस-परिपाक के उपक्रम का परिचय प्राप्त हो जाता है। मालव की गौरव-प्रतिमा टूटने ही को है, द्वार टूट चुका है, विजयी शत्रु-सेनापति का प्रवेश होता है, भीम आकर उसे रोकता है और गिरते-गिरते जयमाला और देवसेना की सहायता से युद्ध करता है। सहसा स्कंदगुप्त सैनिकों के साथ प्रवेश करता है। उसे इस प्रकार टूट पड़ते देखकर शक और हूण स्तंभित होते हैं। फिर भयंकर युद्ध होता है और स्कंदगुप्त शत्रुओं को बंदी बनाता है। यहाँ भारत की दुर्दम युद्ध-वीरता अपना आलोक बिखेर देती है।

यहाँ पर एक विशेष बात और दिखाई पड़ती है। आधिकारिक कथा-वस्तु की आरंभावस्था की समाप्ति के साथ ही स्कंदगुप्त के व्यक्तिगत जीवन से संबद्ध प्रेम की प्रासंगिक कथावस्तु का आरंभ भी हो जाता है। जयमाला और देवसेना के अतिरिक्त विजया

की नवीन और अपरिचित मूर्ति का दर्शन होने पर स्कंद का उसकी ओर आश्चर्ययुक्त आकर्षण दिखाकर नाटककार ने प्रासंगिक कथानक का सूत्रपात किया है। धीरे-धीरे आधिकारिक वस्तु के साथ-साथ इस प्रेम-प्रसंग का उत्कर्षापकर्ष दिखाया गया है। प्रेम की यह एकांतचर्या स्कंद के अंतरंग जीवन से संबद्ध होकर चली है कहीं भी वह उसके सामाजिक जीवनपक्ष पर प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं डालती। अतएव इसका विचार सर्वथा पृथक् रूप ही से उचित हो सकता है। यों तो इसने स्कंद के जीवन की धारा को कभी छोड़ा भी नहीं है।

द्वितीय अंक में प्रयत्नावस्था है। यह प्रयत्न दो विषयों का है। साध्य के साधन में दो विघ्न हैं। इस अंक में इन्हीं दोनों विघ्नों को हटाने का प्रयत्न हुआ है। प्रथम विघ्न तो गृह-कलह है जो अनंत देवी और भटार्क के कुचक्र रूप में दिखाई पड़ता है। प्रथम अंक में इन कुचक्रियों ने सम्राट् का जीवन समाप्त किया, अब इस अंक में देवकी पर हाथ साफ करना चाहते हैं। दूसरा विघ्न बर्बर आक्रमणकारियों का आतंक है, जिससे संपूर्ण देश की रक्षा करनी है। एक ओर इस महान् उद्देश्य की पूर्ति का प्रश्न है और दूसरी ओर स्कंदगुप्त अपना विरागी मन किस-किस ओर लगाए यह समस्या है। प्रयत्न-रूप में वह कुसुमपुर में पहुँच-कर ठीक समय पर अपनी माता देवकी की रक्षा करता है। इस प्रकार षड्यंत्र का नियंत्रण होता है। उधर अवंती में राज्याधिकार स्वीकार कर सेना और सहयोगियों के द्वारा शक्ति-संचय करता

है, जिससे प्रधान लक्ष्य की सिद्धि का योग मिले। द्वितीय अंक की समाप्ति प्रभावशाली और आकर्षक है। स्कंदगुप्त का राज्यारोहण और कुचक्रियों का बंदी-रूप में सामने उपस्थित होना इसका अंतिम दृश्य है। इसमें प्रयत्न-पक्ष की पूर्णता स्थापित होती है। इस प्रयत्न के रूप का दर्शन होने पर भविष्य स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है।

प्रेम की प्रासंगिक कथा भी आगे बढ़ती है। इस अंक में विजया स्वीकार करती है कि युवराज स्कंद की ओर वह आकर्षित है, परंतु उसके विराग-भाव को देखकर उसकी चंचल वृत्ति विमुख हो जाती है। फलतः वह भटार्क की ओर बढ़ती है। न्यायाधिकरण में वह भी भटार्क और बंदियों के साथ उपस्थित होती है। स्कंदगुप्त को आश्चर्य और संभवतः दुःख होता है। वहाँ विजया स्पष्ट स्वीकार करती है कि 'मैंने भटार्क को वरण किया है'। इस पर स्कंद के विरागी हृदय को चोट पहुँचती है। साथ ही देवसेना स्थिति को स्पष्ट रूप से समझ लेती है। उसे यह ज्ञात हो जाता है कि वस्तुतः स्कंद विजया की ओर आकर्षित है। अतएव वह अपना कर्तव्य स्थिर कर लेती है।

तृतीय अंक में भी स्कंद की जीवन-धारा का क्रम पूर्ववत् ही रहता है। अनंतदेवी, भटार्क और प्रपंचबुद्धि का कुचक्र उसी प्रकार चल रहा है और स्कंदगुप्त को उसी प्रकार उससे युद्ध करना पड़ता है। महादेवी देवकी की ओर से असफल होकर ये लोग देवसेना को अपना लक्ष्य बनाते हैं। इसी कुचक्र में विजया भी

संमिलित हो जाती है। ठीक अवसर पर श्मशान में पहुँचकर मातृगुप्त और स्कंद देवसेना की रक्षा करते हैं। इसके पश्चात् बंधुवर्मा को महाबलाधिकृत बनाकर संमिलित सेना के साथ स्कंद पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत की गांधार-घाटी में युद्ध करने चढ़ता है। उसकी सेना में एक अंश मागधी सेना का भी था जिसका नायक भटार्क है। भटार्क रणस्थल में आने के पूर्व हूण दूत से मिलकर उसके अनूकुल कार्य करने के लिए वचन-बद्ध हो जाता है। उस पर बंधुवर्मा को संदेह होता है और वह समयानुसार स्कंद को सावधान भी करता है, परंतु स्कंद अपनी स्वाभाविक उदारता और नीति के अनुसार भटार्क को केवल सचेत कर देता है। वहाँ महत्त्वपूर्ण अवसर पर भटार्क अपना सच्चा रूप प्रकट करता है। जो दायित्व उसे सौंपा गया था उसके ठीक विरुद्ध आचरण करके स्कंद के जीवन को अंधकार के गर्त में डाल देता है। जिस समय स्कंद की सेना कुभा पार कर रही है उसी समय वह बाँध काट देता है, जिससे स्कंद और उसके साथ की सेना बाढ़ में बह जाती है। भटार्क के कारण फल की प्राप्त्याशा की स्थापना स्पष्ट नहीं हो पाती।

कार्य की भारतीय प्राप्त्याशावस्था की स्थापना नियमतः तृतीय अंक की समाप्ति के साथ-साथ होनी चाहिए; परंतु उस अंक के अंत में प्राप्त्याशा का रूप उपस्थित न होकर पाश्चात्य चरमसीमा का रूप स्पष्ट दिखाई पड़ता है। प्रधान पात्र के लिए आशंका, विरोध और कष्ट की यहाँ चरमसीमा उपस्थित है। हाँ,

फल-प्राप्ति की आशा एवं संभावना अन्य प्रकार से ध्वनित होती है। स्कंदगुप्त का चरित्रबल इन आपदाओं से हार नहीं मान सकता यह विश्वास, प्राप्ति की आशा का रूप है। दूसरी बार वह दुगुने उत्साह से आक्रमण करेगा और आशा की जा सकती है कि उसे फल की सिद्धि होगी। दूसरी बार वह भटार्क ऐसे संदिग्ध सैनिकों पर विश्वास करने की भूल कदापि न करेगा। यदि ऐसा विश्वास न किया जाय तो इस अंक के अंत में आकर फल-प्राप्ति की आशा तो नहीं, हाँ, उसके दुःखों की चरमसीमा का बोध अवश्य होता है।

इसके अतिरिक्त अंतःसलिला पयस्विनी के समान प्रेम का प्रसंग और अधिक रंग पकड़ता है। अपना राज्य स्कंदगुप्त को अर्पण करके देवसेना ने उसे अपने उपकारों के बोझ से दबा दिया है और इस प्रकार वह विवश होकर अवश्य ही प्रतिदान के रूप में अपना प्रेम देवसेना को देगा—ऐसा विचार कर विजया देवसेना को अपना शत्रु समझ बैठती है। फलतः वह स्कंदगुप्त और देवसेना के विरुद्ध और भटार्क तथा अनंतदेवी के अनुकूल वेग से दौड़ पड़ती है। उसके इस व्यापार का परिणाम यह होता है कि स्कंदगुप्त की प्रेम की मधुर भावनाएँ उसकी ओर से आहत होकर एकमात्र अधिकारिणी देवसेना की ओर बढ़ती हैं। स्थिति भी इसके अनुकूल आ ही जाती है। देवसेना के वध किए जाने की बात स्कंद को ज्ञात हो जाती है और वह ठीक अव-सर पर पहुँचकर उसे बचाता है। देवसेना भयभीत दशा में स्कंद

का आलिंगन करती है। वहीं स्कंदगुप्त को व्यक्त रूप में यह मालूम होता है कि देवसेना उससे प्रेम करती है। इस अवसर पर मृत्युकाल समीप समझकर ही वह अपना अंतस् खोलती है, अन्यथा आगे चलकर वह कभी स्कंद से प्रेम की चर्चा करके उसका अपमान नहीं होने देती। प्रेम-ज्वर पर कठोर नियंत्रण करती रहती है। दूसरी ओर विजया भटार्क के साथ रहकर युवराज पुरगुप्त का मन-बहलाव करती दिखाई देती है।

भारतीय पद्धति से चौथे अंक में नियताप्ति होनी चाहिए। फल की प्राप्ति नियत—निश्चित हो जानी चाहिए, परंतु ऐसा स्पष्ट दिखाई नहीं देता। उसका प्रच्छन्न प्रतिपादन अवश्य है, परंतु जितनी सुंदर पाश्चात्य निगति दिखाई पड़ती है उतनी नियताप्ति नहीं। स्कंदगुप्त का एकाकी और निःसहाय रूप में बच रहना, संपूर्ण धर्म-संघों का विरुद्ध हो जाना, उसकी माता देवकी की मृत्यु, समस्त साधनों का विशृंखल होना और सामरिक शक्ति का टूट जाना निगति का रूप दिखाता है। कुछ स्थितियाँ ऐसी अवश्य आई हैं जिनसे हम यह समझ ले सकते हैं कि अंत अनुकूल होगा। इस अंक का आरंभ ही विरोधियों में फूट की कथा कहता है। भटार्क को लेकर, विजया और अनंतदेवी में, विरोध होता है। शर्वनाग की बातचीत से विजया और भी प्रभावित होती है और देश के कल्याण में निरत होना चाहती है। उधर अपनी माता की फटकार और राजमाता देवकी की मृत्यु से भटार्क की आखें कुछ खुलती हैं; जिससे वह निश्चित करता है कि अब वह संघर्ष से

अलग रहेगा। इस प्रकार विरोधी दल की फूट, भटार्क की मनो-वृत्ति में मंगल का प्रवेश और स्कंदगुप्त आदि कुछ वीरों का बचा रहना ही नियताप्ति का सूचक है। इसी आधार पर उज्वल भविष्य की आशा निश्चित होती है।

प्रेम के क्षेत्र में भी परिवर्तन है। विजया पुनः एक बार स्कंद की ओर बढ़ती है। उसके विचार बदलते हैं; परंतु इस समय तक स्कंदगुप्त उसकी ओर से असफल होकर देवसेना के प्रति अपना दायित्व स्थापित कर लेता है। हूण से त्रस्त होकर जिस समय देवसेना सहायता की पुकार लगाती है उस समय स्कंद पूरी तत्परता से अपने सच्चे मित्र बंधुवर्मा की धरोहर को बचाने के लिए दौड़ता है। नाना प्रकार के दायित्वपूर्ण व्यापारों में निरत रहने से स्कंद के ऊपर अभी तक जो एक प्रकार की आत्म-विस्मृति छाई हुई थी, इस घटना से वह भाग खड़ी होती है और उसमें विजया के प्रति विरक्ति और देवसेना के प्रति दायि-त्वपूर्ण अनुरक्ति की स्थापना हो जाती है।

नाटक का पंचम अंक सुंदर और प्रभावशाली है। उसमें समष्टिप्रभाव अथवा प्रभावान्विति की स्थापना बड़ी ही महत्त्व-पूर्ण है। यदि भटार्क की देश-रक्षा के व्रत की सूचना और साम्राज्य के बिखरे हुए सब रत्नों को एकत्र करनेवाले पर्णदत्त का संकल्प चतुर्थ अंक में आ जाता तो नियताप्ति का सुंदर रूप खड़ा हो गया होता; परंतु नाटककार इन्हीं साधनों के द्वारा फल-प्राप्ति कराना चाहता है। अतएव उसने इनको निर्वहण संधि में रखा

है। विजया का रत्नागार लेकर भटार्क पवित्र उत्साह से नवीन सेना का संकलन आरंभ करता है। अंत में आकर विरोधियों का एक गढ़ और टूटता है। प्रख्यातकीर्ति एवं धातुसेन के प्रयत्न से अनंत देवी और धर्म-संघों में भी अनबन हो जाती है। इस प्रकार विरोधी-दल के सभी अवयव दुर्बल हो जाते हैं। उधर पर्णदत्त की साधना से साम्राज्य के सभी बचे रत्न एकत्र होकर स्कंदगुप्त की छत्रछाया में एक बार पुनः आर्यावर्त की रक्षा का उद्योग करते हैं। इस बार का उद्योग सफल होता है। खिंगिल बंदी किया जाता है; परंतु सिंधु के इस ओर के पवित्र देश में न आने का पणबंध लेकर स्कंदगुप्त उसे मुक्त कर देता है। यह तो आर्यावर्त और उसके गौरव की रक्षा हुई। दूसरी ओर युद्धक्षेत्र ही में पुरगुप्त को रक्त का टीका लगाकर वह गृह-कलह और कौटुंबिक अशांति को भी पूर्ण रूप से मिटा देता है। फल-प्राप्ति का यह भव्य रूप अंत में बड़ा ही प्रभावोत्पादक है।

फल-प्राप्ति का यह सामाजिक रूप स्कंदगुप्त के व्यक्तिगत जीवन से सर्वथा पृथक् है। वह विरागी राष्ट्रोद्धारक अंत में अपने सामाजिक अनुष्ठान में पूर्ण सफल होकर भी व्यक्तिगत रूप में सर्वथा दरिद्र ही रह जाता है। विजया से तो यदि स्वर्ग भी मिले तो वह लेने को तैयार नहीं और देवसेना प्रतिदान में उसका प्रेम स्वीकार कर मालवराज के संमान को गिराना नहीं चाहती। स्कंदगुप्त पर अपने जीवन को अर्पित करके भी वह उसके प्राप्य में भाग नहीं लेना चाहती। ऐसी अवस्था में 'हतभाग्य स्कंदगुप्त

अकेला' ही रह जाता है। मानव-जीवन का यह कठोर वैषम्य उसकी व्यक्तिगत कथा का मूल भाव है।

## अर्थप्रकृति

कार्य की अवस्थाओं के साथ अर्थप्रकृतियों का विनियोग भी स्पष्ट रूप से होता गया है। आरंभावस्था में ही बीज अर्थ प्रकृति का स्थापन हो गया है। इस अर्थप्रकृति का आरंभ प्रथम दृश्य के उस स्थल पर दिखाई पड़ता है जहाँ स्कंदगुप्त के पूछने पर कि 'अधिकार का उपयोग करें! वह भी किस लिए!' पर्णदत्त ने अधिकारयुक्त वाणी से उत्तर दिया है—'किस लिए! त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिए, शिशुओं को हँसाने के लिए, सतीत्व के संमान के लिए, देवता, ब्राह्मण और गौ की मर्यादा में विश्वास के लिए, आतंक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिए, आपको अधिकारों का उपयोग करना होगा'। इसी स्थल से फलाधिकारीउदात्त कार्य-व्यापारों की ओर संलग्न हुआ है। अधिकार की मर्यादा ही उस कार्य का बीज रूप है जिसकी सिद्धि के लिए सब व्यापार किए गए हैं। मुख्यफल का हेतु यह कथाभाग क्रमशः वहाँ तक विस्तृत होता जाता है जहाँ स्कंदगुप्त के अवंती पहुँचने की सूचना मिलती है; अर्थात् प्रथम अंक का वह स्थल जहाँ मातृगुप्त अत्याचार में निरत हूणों को आतंकित करता है और सहसा महाराजपुत्र गोविंदगुप्त के आ जाने से हूण भाग जाते हैं। अंतिम दृश्य में बिंदु अर्थप्रकृति का आरंभ हो जाता क्योंकि मुख्य कथा-वस्तु अविच्छिन्न बनी ही रहती है और आवांतर, जो मालव-विजय

का प्रसंग है, वहाँ अग्रसर होता दिखाई पड़ता है। इसके पश्चात् आवांतर कथा तो उत्तरोत्तर अग्रसर होती जाती है और आधिकारिक कथा भी बराबर चलती रहती है। इस प्रकार बिंदु का प्रसार तृतीय अंक के प्रथम दृश्य की समाप्ति तक चलता है। यहाँ तक आकर कथाभाग के बीज का पूरा-पूरा विस्तार हो जाता है और इसके उपरांत फिर किसी नवीन पात्र अथवा नवीन ढंग के व्यापार का योग नहीं आता। पताका अर्थप्रकृति के रूप में बंधुवर्मा का प्रसंग है। जहाँ से यह प्रसंग आरंभ हुआ है वहीं से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका अपना कोई भिन्न लक्ष्य नहीं है। फलाधिकारी के मुख्य कार्य-व्यापार में ही बंधुवर्मा साथ देता जाता है और उसकी सिद्धि का सर्वोत्तम साधन बना हुआ निरंतर उद्योगशील दिखाई पड़ता है। यह प्रसंग जाकर गर्भ संधि के बीच बंधुवर्मा की मृत्यु के साथ-साथ ही समाप्त होता है। इस प्रसंग से संबद्ध देवसेना और भीमवर्मा अवश्य ही आगे तक जीवित रहते हैं, परंतु पताका-नायक की समाप्ति के साथ ही उसके द्वारा आरंभ किया हुआ व्रत समाप्त हो जाता है। प्रकरी रूप में प्रसंगागत कई छोटे-छोटे वृत्त आए हैं, जैसे शर्वनाग, धातुसेन, मातृगुप्त इत्यादि के प्रसंग। नाटक का मुख्य कार्य है गुप्त-साम्राज्य की विचलित लक्ष्मी को सुस्थिर और निरापद बनाना। इसीलिए सब प्रयत्न और प्रयास एकत्र किए गए हैं। अतएव इस कार्य के अनुकूल स्थिति जहाँ से उत्पन्न होने लगी है वहाँ से कार्य अर्थप्रकृति का आरंभ हो जाता है। विरोधी दल का नेता भटार्क

जहाँ यह निश्चय करता है कि सब भूलकर, अब स्कंदगुप्त की छत्रछाया में राष्ट्र के उद्धार में लगूँगा और कहता है—'(स्कंद के सामने घुटने टेककर) श्री स्कंदगुप्त विक्रमादित्य की जय हो। जैसी आज्ञा होगी वैसा ही करूँगा'। वहीं से यह अर्थप्रकृति आरम्भ हो जाती है। कार्य की पूर्णता वहाँ आती है जहाँ खिंगिल का परास्त कर स्कंदगुप्त पुरगुप्त को रक्त का टीका लगता है। इस प्रकार आक्रमणकारियों से आर्य-राष्ट्र का पूर्ण उद्धार होता है और अंतःकलह के मूल कारण का भी नाश हो जाता है।

## संधियाँ

उक्त बीज अर्थप्रकृति की उत्पत्ति के साथ ही स्कंदगुप्त मालवदूत को आश्वासन देता है—'दूत! केवल संधि-नियम ही से हम बाधित नहीं हैं, किन्तु शरणागत-रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है। तुम विश्राम करो। सेनापति पर्णदत्त पुष्यमित्रों की गति, समस्त सेना लेकर रोकेंगे। अकेले स्कंदगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए संनद्ध है। जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कंदगुप्त के जीते, मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा।' इस पर पर्णदत्त कहता है—'युवराज, आज यह वृद्ध हृदय से प्रसन्न हुआ। कोई चिंता नहीं; गुप्त साम्राज्य की लक्ष्मी प्रसन्न होगी'। यहीं से मुख संधि का आरम्भ मानना चाहिए। आरंभ नामक अवस्था के साथ बीज अर्थप्रकृति की उत्पत्ति इस स्थल पर दिखाई पड़ती है। यहीं निश्चय का बोध होता है कि आगे क्या क्रम चलेगा। 'मुखं बीजसमुत्पत्ति-र्नानार्थरससंभवा' के अनुसार आगे कार्य-व्यापारों के द्वारा

विविध भावों की भी उत्पत्ति होती चलती है, इसका विस्तार प्रथम अंक के समाप्ति-स्थल तक चलता है। जहाँ हूण परास्त होते हैं, वहाँ से प्रतिमुख संधि का आरंभ हो जाता है, क्योंकि फिर तो मुख संधि में दिखलाए हुए बीज का लक्ष्य-अलक्ष्य रूप में उद्भेद प्रारंभ हो जाता है। हूणों की पराजय और राज्याभिषेक प्रसंग में, फलप्राप्ति विषयक बातें हैं और तुरंत ही फिर प्रपंचबुद्धि के प्रपंच में पड़े हुए शर्वनाग और भटार्क की कुचक्र-रचना से फलावरोध दिखाई पड़ने लगता है। महादेवी की हत्या की योजना और फिर उनका बचना, राज्याभिषेक में जयमाला का विरोध करना और फिर अनुकूल हो जाना इत्यादि बातें बीज की लक्ष्यालक्ष्य उद्भेदक ही तो हैं। इस स्थिति का विस्तार वहाँ तक चलता है जहाँ स्कंदगुप्त देवसेना को प्रपंचबुद्धि के चंगुल से छुड़ाता है। मगध में अनंतदेवी, पुरगुप्त, विजया और भटार्क का जो संमेलन होता है उसमें गर्भ संधि का आरंभ हो जाता है, क्योंकि फिर तो क्षण-क्षण पर बीज अथवा फल का आविर्भाव और तिरोभाव होने लगता है और कुतूहल की तीव्रता बढ़ उठती है। अनंतदेवी और भटार्क के कारण फल-प्राप्ति में आशंका उत्पन्न होती है और स्कंदगुप्त के प्रयत्नों को देख-कर आशा का उदय होने लगता है। यह द्विधा की अवस्था चतुर्थ अंक के द्वितीय दृश्य तक चली है, अतएव वहीं गर्भ संधि की समाप्ति माननी चाहिए। इसी अंक में आगे चलकर विचित्र अवस्था में स्कंदगुप्त का जो प्रवेश होता है, वह विमर्श संधि का स्थल है। यह विमर्श विपत्तिमूलक है। विपत्ति में पड़ा हुआ प्राणी

जिस प्रकार अनुभव करता है उसी रूप में स्कंदगुप्त दिखाई पड़ता है। 'कर्तव्य विस्मृत, भविष्य अंधकारपूर्ण, लक्ष्यहीन दौड़ और अनंत सागर का संतरण है, अवलंब दो नाथ !' विपत्ति में पड़े हुए की यह विपन्नावस्था कुछ दूर तक चलती है। इस बीच में विपक्षी कुछ दुर्बल होने लगते हैं। उनमें पश्चात्ताप का उदय होता है। इस कारण जब भटार्क भविष्य में सुधार के लिए कृतनिश्चय होकर सद्भाव से स्कंदगुप्त के पास आता है तब इस विपत्तिकाल की समाप्ति होती है। वहाँ से आगे तो फिर निर्वहण संधि आरंभ हो जाती है, क्योंकि धीरे-धीरे विरोधी वर्ग के लोग या तो मर जाते हैं या अधिकारी नायक के अनुकूल होने लगते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर फल-प्राप्ति समीप आने लगती है। विजया आत्महत्या कर लेती है। भटार्क स्कंदगुप्त के अनुकूल हो जाता है, अनंतदेवी और पुरगुप्त बंदी कर लिए जाते हैं। अंत में खिंगिल की भी पराजय होती है।

## पात्र-चरित्र

चरित्रांकन की पद्धति के विचार से स्कंदगुप्त नाटक में कोई नवीनता नहीं दिखाई पड़ती। नाटककार ने मनुष्य की तीन विभिन्न स्थितियों और वृत्तियों का जैसा स्वरूप अपने अन्य रूपकों में उपस्थित किया है उसी प्रकार इसमें भी है। इस व्यावहारिक संसार में हमें, शुद्ध मानव—अपने अच्छे और बुरे रूपों से युक्त, राक्षस—अशुद्ध और असत् मूर्ति और देवता—आदर्श के सच्चे प्रतिनिधि—दिखाई पड़ते हैं। उसी प्रकार उनमें सत्-असत् मनोवृत्तियाँ

भी काम किया करती हैं; परन्तु राक्षस कभी प्रबल पड़ता नहीं दिखाया गया है। इस विषय में 'प्रसाद' भारत की शुद्ध आध्यात्मिकता का ही प्रतिपादन करते हैं। मंगल विकृत होकर कल्याण का साधन नहीं बन सकता। इसीलिए 'प्रसाद' कुछ पात्रों को दानववृत्ति के कारण दुष्ट मार्ग में पड़ते दिखाकर भी भय, प्रेम आत्मशोधन, उपदेश इत्यादि के कारण उनमें परिवर्तन दिखाते हैं। भटार्क, अनंत देवी, प्रपंचबुद्धि और विजयादि की सृष्टि और परिवर्तन इसी आधार पर है। पात्रों की बहुलता में नाटककार ने जिन यथार्थ मनुष्यों के रूप खड़े किए हैं वे प्रकृत और विशेष अनुरंजनकारी हैं, जैसे—शर्वनाग और जयमाला। इनके अतिरिक्त जो देवता हैं वे प्रिय, मनोहर, पूज्य, आदर्शरूप तो हैं परंतु साथ ही हम से बहुत दूर नहीं हैं। इस प्रकार का देवत्व आकस्मिक नहीं नैमित्तिक है, इसलिए अयथार्थ और बुद्धि के प्रतिकूल नहीं ज्ञात होता। स्कंदगुप्त, देवसेना, पर्णदत्त और बंधुवर्मा उदात्त चरित्र के आदर्श चित्र हैं, पर जीवन-द्वंद्वों के अंतराल से चल रहे हैं। अतएव उनमें विशेष अलौकिकता पुंजीभूत नहीं दिखाई पड़ रही है।

'प्रसाद' के नाटक प्रायः प्रधान पात्रों से ही आरंभ होते हैं और उनके जीवन की मूल प्रेरक वृत्ति का अनुकथन आरंभ में ही कर दिया जाता है। यह व्यक्ति-वैलक्षण्य का सूत्र है। इसी के सहारे हम व्यक्ति के समस्त कार्य-व्यापारों की व्याख्या करते हैं। सुरमा की अपरितृप्त वासनाएँ, अजातशत्रु की क्रूरता, स्कंदगुप्त की विराग-भावना और चाणक्य के दायित्वपूर्ण गांभीर्य का परिचय आरंभ

में ही मिल जाता है। सत्य बात तो यह है कि नाटक में चरित्र-विकास दिखाने का अवसर अधिक नहीं मिलता, इसलिए आरंभ से ही उस मूल भित्ति का आभास आवश्यक होता है जिसके ऊपर चरित्र का भवन निर्मित होता है। इस शैली का चरित्रांकन अंत में उत्पन्न होनेवाले समष्टि-प्रभाव का प्राण होता है। 'प्रसाद' अपने उदात्त पात्रों में अन्य गुणों के साथ मर्यादापालन का भाव अवश्य दिखा देते हैं। इसमें उनकी सच्ची भारतीयता प्रकट होती है। राज्यश्री, मल्लिका, देवसेना, बुद्धदेव और स्कंद इत्यादि के आधार पर मर्यादा का बड़ा ही भव्य रूप खड़ा किया गया है। उनके नाटकों में पुरुषों और स्त्रियों के कार्य और भाव-व्यापारों का तारतम्य अच्छा दिखाया गया है। जैसे एक ओर पुरुषों में कर्म, न्याय, दायित्व और शक्ति की। प्रधानता रहती है उसी प्रकार स्त्रियों में सेवा, ममत्व और त्याग की जैसे एक ओर दुष्ट पुरुष-पात्रों में दंभ, उच्छृंखलता और महत्त्वाकांक्षा दिखाई गई है उसी प्रकार दूसरी ओर दुष्टाओं में अनुदारता, ईर्ष्या, द्वेष और चंचलता।

'प्रसाद' के नाटक प्रायः उद्देश्यपूर्ण हैं। अतएव उनके पात्रों के संमुख एक लक्ष्य रहता है। इष्ट-साधन में संलग्न पात्रों का एक दल होता है। इन दलवालों की भी वर्गगत कुछ विशिष्टता होती है, जैसे, सत्साहस, प्रेम, गांभीर्य। विरोधी दल अपनी दुर्बलताओं के कारण सर्वप्रिय लक्ष्य का विरोध करता है। विरुद्ध वर्गवाले अधिकांश संकुचित स्वार्थ और दंभ से प्रेरित होकर

कुचक्र की रचना करते हैं। स्कंदगुप्त नाटक में भी दो विभाग स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। स्कंद, पर्णदत्त, बंधुवर्मा, देवसेना प्रभृति पात्र इष्ट-साधक हैं और अनंतदेवी, भटार्क, पुरगुप्त और प्रपंचबुद्धि इत्यादि इष्ट के विरोधी।

## स्कंदगुप्त

इस नाटक का नायक स्कंदगुप्त है। वह सच्चा कर्मवीर और उदात्त चरित्र का व्यक्ति है। उसमें कुल-शील की उत्तमता के साथ शांत प्रकृति और गंभीर भावनाओं का सुंदर योग प्राप्त होता है। देवोपम मानव-चरित्र की संपूर्ण विभूतियों का उसमें अच्छा समवाय है। वह अपनी निर्लिप्त कर्मवीरता के बल पर हमारी श्रद्धा और भक्ति का आलंबन बन जाता है। उसको देखकर इतिहास तो भूल जाता है, परंतु उसका व्यक्तित्व हमारे मानस-लोक में अमर हो उठता है। नाटककार ने उसमें पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्य और भारतीय साधारणीकरण का सुंदर समन्वय किया है। संपूर्ण नाटक में उसका व्यक्तित्व प्रधान है। अन्य सभी पात्र उसके साथ चलते, साथ विरत होते हैं अथवा उसके चरित्र से प्रभावित रहते हैं।

स्कंदगुप्त वीर, निर्भीक, स्वावलंबी, उदार, कर्त्तव्यपरायण और व्यवहारकुल व्यक्ति है। आरंभ में उसका संम्पूर्ण तेज विर-क्तिमूलक भावनाओं से आच्छन्न दिखाई पड़ता है, परंतु यह विरक्ति उसकी व्यक्तिगत विशेषता है। उसने कभी स्कंद के सामाजिक जीवन की प्रकृत धारा में किसी प्रकार की उदासीनता

नहीं उत्पन्न होने दी। इसके जो कारण हैं वे सब मानसिक हैं। विचार-गांभीर्य के कारण एक तो स्कंद यों ही शांत स्वभाव का है दूसरे गुप्त-साम्राज्य का उत्तराधिकार-नियम भी उसे चिंतित रखता है। आगे चलकर भी वह जीवन की उग्र परिस्थितियों से निरंतर युद्ध करने के कारण शांत होकर अपने जीवन में जब प्रेम की शीतल छाया का भी अभाव ही पाता है तब उसकी यह विरक्ति भी कुछ उद्दीप्त हो उठती है। परंतु इसका यह उद्दीपन व्यक्ति और समाज के लिए किसी प्रकार घातक नहीं बनता, बल्कि स्कंद के व्यक्तित्व को देवोपम बनाने में सहायक होता है। देवसेना की ओर से भी जब वह प्रेम का भौतिक आश्रय नहीं पाता तो वही विरक्ति मंगलमय हो उठती है। तभी वह त्याग की उस उच्च भूमिका में पहुँच सका है जहाँ असाधारण पराक्रम से विजित राष्ट्र को एक तिनके की भाँति पुरगुप्त को दान कर देने की क्षमता उसमें उत्पन्न हो गई है। उस स्थल पर पहुँचकर उसका सच्चा शिवत्व देखने में आता है।

स्कंद में महत्त्व की आकांक्षा नहीं है। उसके जीवन में जहाँ भी पुरुषार्थ और उद्योग दिखाई पड़ता है वह आसक्तिहीन कर्तव्य-पालन के रूप में है। आरंभ में वह अपने अधिकारों के प्रति उदासीन ही रहता है। अधिकार-सुख को मादक और सारहीन समझता है। अपने युवराजत्व का कोई विशेष दर्प उसमें नहीं दिखाई देता। वह अपने को साम्राज्य का सैनिकमात्र समझता है। उसका यह विराग व्यक्तिगत एवं ऐकांतिक है। कहीं भी वह

बाहरी लोगों के संमुख प्रकट नहीं होता। विराग के अंतरतम प्रदेश से उभरते ही उसका वह सामाजिक स्वरूप सामने आ जाता है जिसमें सक्रियता, क्षात्रतेज और आत्मविश्वास भरा है। दूत के मुख से मालव पर हूणों के आक्रमण की सूचना और सहायता की प्रार्थना सुनकर उसमें कर्तव्य-ज्ञान और क्षात्रधर्म का उदय होता है। प्रगाढ़ आत्मविश्वास और उदग्र सत्त्व के बल पर ही स्कंद दूत को आश्वासन देता है—'दूत! केवल संधि-नियम ही से हम लोग बाध्य नहीं हैं, किन्तु शरणागत की रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है। तुम विश्राम करो। अकेला स्कंदगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए संनद्ध है। जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कंद-गुप्त के जीते जी, मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा'। इस निश्चय में स्वावलंबन का भाव भरा है, क्योंकि स्कंद को भली भाँति ज्ञात है कि 'राजधानी से अभी कोई सहायता नहीं मिलती। हम लोगों को इस आसन्न विपद् में अपना ही भरोसा है'। इसके उपरांत तड़ित्-वेग से वह अवंती-दुर्ग में ठीक अवसर पर पहुँच कर अतुल निर्भीकता और अपार पौरुष का प्रदर्शन करके शक और हूणों को पराजित करता है। इस रूप में वह आर्य-साम्राज्य के भावी शासक के उपयुक्त ही दिखाई देता है।

यों तो स्कंदगुप्त में उदात्त नायक के सभी गुण विद्यमान हैं; परंतु रह-रहकर उसका आंतरिक विराग जाग उठता है और उसे अपने संघर्षपूर्ण कार्यकलाप पर चिंता होती है। वह सोचने लगता है—'सम्राट् कुमारगुप्त का आसन मेरे योग्य नहीं है। मैं झगड़ा

करना नहीं चाहता, मुझे सिंहासन न चाहिये। पुरगुप्त को रहने दो। मेरा अकेला जीवन है। मुझे........' करना क्या है। इस विराग-भाव में भी उसके विचार सदैव उन्नत ही रहते हैं। वह चक्रपालित से कहता है—'संसार में जो सब से महान है वह क्या है। त्याग! त्याग का ही दूसरा नाम महत्त्व है'। अतएव अपने जीवन का साध्य वह इसी को समझता है। उसे अधिकार, राज्य और युद्ध में विशेष तत्त्व नहीं दिखाई पड़ता। फिर भी वह पराङ्मुख नहीं होता।

उसे अपनी माता से अनन्य प्रेम है। यह उसकी ललक और भक्ति से सर्वत्र ध्वनित होता है। ठीक अवसर पर पहुँचकर कुचक्रियों से वह अपनी माता के प्राणों की रक्षा करता है। इसके अतिरिक्त ये कुचक्री सदैव उसे कष्ट देते हैं फिर भी वह अपने उद्वेग का संयमन करता है। जिस अलौकिक दया—उदारता से वह उन लोगों को क्षमा करता है और पुरगुप्त को इस जघन्य अपराध पर भी मगध का शासक बनाता है उससे उसमें उच्च कुल-शील का भव्य स्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है। उसकी इसी विराग-मिश्रित उदार वीरता पर मुग्ध होकर बंधुवर्मा कहता है—'उदार वीर हृदय, देवोपम सौंदर्य........अंतःकरण में तीव्र अभिमान के साथ विराग है। आँखों में एक जीवनपूर्ण ज्योति है'। क्षमादान में वह सर्वत्र समभाव से उदार है। उसके इस व्यापक क्षमा-भाव की मूल भित्ति आत्मविश्वास और चित्त की उदारता है। देवकी के प्राणघात की चेष्टा करनेवाले शर्वनाग और

भटार्क को भी वह क्षमा कर देता है। अंत में जाकर खिंगिल ऐसे क्रूर शत्रु को भी वह छोड़ देता है। उसके आचरण की यही दिव्यता चरित्र के मंगलविधायक अलौकिक भारतीय शील का प्राण है। अतुल पुरुपार्थ के साथ यह उदार क्षमाभाव सोने में सुगंध है।

अनेकानेक आदर्श गुणों के साथ-साथ स्कंद व्यवहार-कुशल भी है। स्थिति की गहनता समझकर अनुकूल आचरण का पूरा उद्योग करता है। उसकी व्यवहार-बुद्धि का रूप दो स्थलों पर दिखाई पड़ता है। गुप्तकुल के अव्यवस्थित उत्तराधिकार-नियम को स्कंदगुप्त की उदासीनता का कारण बताने पर जिस समय चक्रपालित को पर्णदत्त डाँटता है, उस समय स्कंद, चक्र की वकालत करते हुए कहता है—'आर्य पर्णदत्त ! क्षमा कीजिए। हृदय की बातों को राजनीतिक भाषा में व्यक्त करना चक्र नहीं जानता'। दूसरा स्थल वह है जहाँ युद्धभूमि में चक्रपालित ने उसे भटार्क की ओर से सावधान रहने और उस पर विश्वास न करने की सलाह दी है। इस अवसर पर स्कंद का यह उत्तर देना—'मैं भटार्क पर विश्वास तो करता ही नहीं; परंतु उस पर प्रकट रूप से अविश्वास का भी समय नहीं रहा'—उसकी व्यवहार-कुशलता का बोधक है।

स्कंदगुप्त में देश-प्रेम का रूप बड़ा ही दिव्य है। निर्लिप्त रूप में निरंतर उसकी यही चेष्टा रहती है कि आर्य-साम्राज्य का कल्याण हो। उसका गौरव किसी प्रकार भी विलुप्त न होने पाए।

इस साम्राज्य की मंगल-कामना के मूल में उसका कोई अपना स्वार्थ नहीं है। उसके द्वारा स्कंद न तो अपना स्वत्व चाहता और न अधिकार की ही उसे लालसा है। उसकी यह भी इच्छा नहीं कि वही शासन करे। जिस समय भटार्क की पैशाचिक प्रतारणा के कारण विदेशी आक्रमणकारी सफल होते हैं और कुभा के रणक्षेत्र में स्कंद की सेना असफल होती है उस समय स्कंदगुप्त शक्तिहीन होकर भविष्य की बात सोचने-विचारने लगता है। उसे अपने दुःखों की चिंता नहीं होती और संसार के आक्षेप-संकेतों की भी लज्जा नहीं होती। उसे केवल ग्लानि इसी बात की है कि 'यह ठीकरा इसी सिर पर फूटने को था। आर्य-साम्राज्य का नाश इन्हीं आँखों को देखना था। हृदय काँप उठता है। देशाभिमान गरजने लगता है। मेरा स्वत्व न हो, मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं। यह नीति और सदाचारों का महान् आश्रय-वृक्ष—गुप्तसाम्राज्य—हरा-भरा रहे और कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो'। इस कथन में कितना उदार और सच्चा देश-प्रेम है। केवल स्कंदगुप्त ऐसा कर्मठ वीर ही इतने निर्लिप्त राष्ट्र-प्रेम का स्वरूप संमुख उपस्थित कर सकता है। उसके उक्त उद्गार परिस्थिति से प्रेरित नहीं हैं। इस प्रकार की तटस्थ उदारता उसके जीवन का मुख्य अंग है, अन्यथा अतुल पराक्रम से समार्जित साम्राज्य पुरगुप्त को क्षण भर में वह कदापि न दे पाता। उसका देश-प्रेम किसी की सहायता अथवा सैन्यबल पर आश्रित नहीं है। उसकी मूल भित्ति आत्म-विश्वासपूर्ण, निःस्वार्थ और मंगलमयी वह

अंतःप्रेरणा है जिसके कारण स्कंद का व्यक्तित्व इतना सुंदर हो उठा है। शुद्ध कर्म-योगी की भाँति उसमें विश्वास है कि 'मैं कुछ नहीं हूँ, उसका ( विश्वनियंता का ) अस्त्र हूँ—परमात्मा का अमोघ अस्त्र हूँ'। शुद्ध बुद्धि से प्रेरित सच्चे कर्मनिष्ठ की नाईं वह जानता है कि न तो किसी से उसकी शत्रुता है और न निज की कोई इच्छा है। इस देश-प्रेम और आत्म-विश्वास से भरी कर्तव्यभावना का उत्तम उदाहरण वहाँ मिलता है जहाँ उसने कहा है—'भटार्क ! यदि कोई साथी न मिला तो साम्राज्य के लिए नहीं जन्मभूमि के उद्धार के लिए मैं अकेला युद्ध करूँगा'। पुरगुप्त को युवराजत्व का टीका लगाते समय यदि कोई सत्कामना उसके मन में उत्पन्न होती है तो केवल इतनी ही कि 'देखना, मेरे बाद जन्मभूमि की दुर्दशा न हो'।

स्कंदगुप्त केवल आदर्श देवता ही नहीं है। हम मानवों के समान उनमें भी अभिमान का रूप है। भले ही उसका वह संमान-भाव उसके जीवनव्यापी वैराग्य-भाव से आक्रांत हो; परंतु उसके सच्चे मित्र बंधुवर्मा को इसका स्पष्ट बोध हो जाता है। उसने विचार किया कि स्कंद के अंतःकरण में तीव्र अभिमान के साथ विराग है। इस आलोचना का स्पष्टीकरण स्वयं स्कंदगुप्त के संवादों से हो जाता है जब स्कंद को सब प्रकार से निरीह एवं एकाकी पाकर विजया उसके संमुख अपना प्रेम-प्रस्ताव रखते हुए अपने रत्नागार का प्रलोभन देती है और उस असहाय अवस्था में इस द्रव्य से राष्ट्रोद्धार के अनेक उपायों की संभावना भी है फिर

भी इस प्रस्ताव के मूल में जो हीन वृत्ति बैठी है उसको वह परख लेता है। उस समय उसका आत्माभिमान जागता है और वह निरादरपूर्वक उत्तर देता है—'साम्राज्य के लिए मैं अपने को नहीं बेंच सकता'। अर्थलोभी हूण दस्युओं को घूस देकर मालव और सौराष्ट्र को स्वतंत्र कराने में उसके आत्मसंमान को कड़ा धक्का लगेगा इसको वह अच्छी तरह जानता है और यह भी समझता है कि इस प्रकार के किसी प्रस्ताव को स्वीकार करने में उसका आजीवन-पालित व्यक्तित्व ही नहीं रह जाएगा। अतएव स्पष्ट रूप से वह इसे अस्वीकार करता है—'सुख के लोभ से, मनुष्य के भय से, मैं उत्कोच देकर क्रीत साम्राज्य नहीं चाहता'। इस कथन में जो प्रकृत गर्व और आत्मसंमान का भाव निहित है वह स्कंद के व्यक्तित्व को यथार्थ भूमि पर ला खड़ा करता है।

## देवसेना

देवसेना का चरित्र आदर्श होने पर भी व्यक्तित्व से आपूर्ण है। उसकी सारी अलौकिकता—त्याग, देश-प्रेम, सेवा, सहिष्णुता और रहस्योन्मुखी भावनाएँ—गांभीर्य से आच्छादित दिखाई पड़ती हैं। गांभीर्य की सहयोगिनी दृढ़ता भी उसमें उच्चकोटि की है। प्रथम अंक के अंतिम दृश्य में, जब वह हमारे संमुख पहली वार आती है तभी, 'देश के मान का, स्त्रियों की प्रतिष्ठा का, बच्चों की रक्षा का विचार' उसमें दिखाई देता है वह अपने सामाजिक दायित्व के प्रति सजग है। अतएव वह केवल कल्पना-लोक की वस्तु नहीं है और अँगरेज कवि शेली की चिड़िया की भाँति

यथार्थ जगत् से सर्वथा परे रहकर आकाश में ही विचरण नहीं करती, वरन् वर्ड्सवर्थ की कल्पना की भाँति धरातल पर स्थित अपने नीड़ की भी सुध बनाए रहती है।

उसका चरित्र अपने ढंग का निराला है। जगत् के व्यावहारिक जीव से उसमें भिन्नता है। उसकी विचारधारा ही कुछ ऊँची भूमिका पर बहती है। संगीत की वह अनन्य प्रेमिका जीवन और जगत के कण-कण में एक लय और एक तान देखती है। वह भीतर बाहर एक सी अखंड है। प्रत्येक स्थिति में निश्चिंत रहनेवाली वह रमणी अपनी ऐकांतिक संपूर्णता में डूबी रहती है। उसके जीवन का आदर्श 'एकांत टीले पर, सब से अलग, शरद् के सुंदर प्रभात में फूला हुआ, फूलों से लदा हुआ, पारिजात वृक्ष' है। उसके व्यक्तित्व का स्वरूप समझने के लिए प्रथम तो ऐसे वृक्ष का अनुसंधान आवश्यक है। फिर उस वृक्ष की सभी विभूतियों का विहार देवसेना में देखना होगा। उसके जीवन की ऐकांतिकता और निरालापन अन्यत्र दुर्लभ है। वह अपने आंतरिक अद्वैत की मधुर अनुभूति से ही प्रेरित हुआ करती है। इसी लिए बाह्य जगत् में भी वह उसी एकरस संगीत का प्रसार पाती है। उसके लिए 'प्रत्येक परमाणु के मिलन में एक रस है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है × × पक्षियों को देखो, उनकी चहचह, कलकल, छल-छल में, काकली में, रागिनी है'। इसी आंतरिक समत्व के कारण वह विश्व के प्रत्येक कंप में एक ताल देखती है, युद्ध और प्रेम

में संगीत का योग चाहती है। श्मशान से भी भयभीत नहीं होती, उसमें भी सत् एवं सुंदर का ही दर्शन करती है।

देवसेना की इस रहस्य-भावना के मूल में हृदय-पक्ष की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है। इस विचार से देवसेना भावुकता की जीती-जागती प्रतिमा है। गांभीर्य का योग पाकर यही भावुकता रहस्योन्मुख बन गई है और प्रेम के क्षेत्र में पहुँचकर यही संयम, त्याग और दृढ़ता का मंगलकारी स्वरूप खड़ा करती है। प्रथम अंक के अंतिम दृश्य में स्कंदगुप्त को विजया की ओर आकृष्ट देखकर वह अनन्य प्रेमिका जाग सी पड़ती है। स्कंद के प्रति उसका जो अनुराग आगे से चला आता है वह इस स्थल पर पहुँचकर संपूर्णतः चेतन बनकर उठता है। वही प्रेम महत्तम की सृष्टि करने लगता है। भौतिकता के स्थान पर आध्यात्मिकता आसन जमाती है। वह अब स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म में आत्म-संतोष देखने लगती है। कुतूहल और रूप-चमत्कार के कारण ही क्यों न हो यदि एक बार भी स्कंद विजया की ओर खिंचता है तो देवसेना भावना से कर्तव्य को अधिक महत्त्वपूर्ण मानकर अपनी भौतिक लालसा एवं वासना को उस मार्ग से हटा लेती है। अपने प्रिय के सुख के लिए अपनी कोमलतम कामनाओं की आहुति दे देती है। इस मूक आत्म-समर्पण में देवत्व है। इस स्थल पर पहुँचकर देवसेना का रूप सामान्य मानव-भूमि से ऊपर उठता दिखाई देता है।

विद्रोहियों के साथ विजया को देखकर जिस समय स्कंदगुप्त

आश्चर्य में पड़कर कहता है—'परंतु विजया, तुमने यह क्या किया'। उस समय देवसेना की धारणा निश्चय में परिणत हो जाती है—'आह ! जिसकी मुझे आशंका थी वह है। विजया ! आज तू हारकर भी जीत गई'। यहीं से उसके प्रेम की भौतिकता खंडित हो जाती है और उसमें मंगल और त्याग का आरंभ होता है। विजया का विद्वेष से भरा उपालंभ—'उपकारों की ओट से मेरे स्वर्ग को छिपा दिया'—पाकर उसके भीतर स्त्री-सुलभ आत्मसंमान उबल पड़ता है। वहीं वह अपने जीवन की इस जटिल समस्या को सुलझाकर अंतिम निश्चय पर पहुँच जाती है। 'अपना राज्य देकर देवसेना ने स्कंद का प्रणय खरीद लिया'—यह उसके और उसके प्रियतम के लिए मानहानि का विषय है। अतएव उसने अपने ऊपर पूरा विश्वास करके कहा—'देवसेना मूल्य देकर प्रणय नहीं लिया चाहती'। इससे उपरांत फिर तो अंत तक वह अपने वचनों पर दृढ़ बनी रहती है।

यहाँ से देवसेना में अंतर्द्वंद्व का स्वरूप दिखाई पड़ने लगता है, क्योंकि उसके भीतर 'हाँ' और 'ना' का संघर्ष आरंभ होता है। जिस स्कंद का प्रेम उसके अंतर्जगत् को स्वर्ग बना रहा है और उसके घोर मानसिक विप्लव का एकमात्र कारण है उसी स्कंद को अपना सब कुछ देकर परिवर्तन में उससे कुछ भी नहीं लिया चाहती। केवलयही भावना कि 'मैंने उन्हें प्यार किया है' उसके संपूर्ण जीवन के लिए अमृत-पाथेय है। इसके अतिरिक्त उसके भीतर कोई भौतिक कामना नहीं है। फिर भी इस स्थूल विछोह में

मचलन और कचोट की वेदना है जिसका नियंत्रण वह सदैव किया करती है। मेरे कर्म और वचन से मेरे हृदय की आँधी का आभास न लग जाए इसका कड़ाई से विचार करती रहती है। केवल एक बार अपनी सखियों से परिवेष्टित रहने पर उसके अंतस् का स्वरूप प्रकट हो सका है। 'मैंने उनसे (स्कंद से) प्रेम की चर्चा करके उनका अपमान नहीं होने दिया है ×× आज ही मैं प्रेम के नाम पर जी खोलकर रोती हूँ, बस, फिर नहीं। यह एक क्षण का रुदन अनंत स्वर्ग का सृजन करेगा ×× जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी मैं संगीत की वीणा मिला लेती हूँ। उसी में सब छिप जाता है'। इतना ही तो देवसेना के प्रेम की गंभीरता का वाचक है। साथ ही प्राण-संकट के समय, अपनी गर्दन पर खड्ग तना देखकर, अपने ईश्वर से एकमात्र यही कामना और याचना प्रकट करती है—'प्रियतम! मेरे देवता युवराज! तुम्हारी जय हो'। इसके उपरांत उसकी तपस्या आरंभ हो जाती है। फिर तो सच्चे कर्मनिष्ठ की भाँति वह निश्चय कर लेती है—'कूलों में उफनकर बहनेवाली नदी, तुमुल तरंग, प्रचंड पवन और भयानक वर्षा; परंतु उसमें भी नाव चलानी ही होगी।' इस निश्चय में विवशता एवं करुणा के साथ निर्लिप्त उत्साह का अद्भुत संमिश्रण है। इसी समरसता में देवसेना का व्यक्तित्व है। चरित्र का यह निरालापन 'प्रसाद' की सर्वोत्तम उद्भावना है। जो इस सृष्टि को अलौकिक कहकर यथातथ्य अथवा यथार्थ-वाद के दम भरने का ढोंग करें उनके लिए देवसेना का केवल

इतना ही कहना पर्याप्त है—'परंतु संसार में ही नक्षत्र से उज्वल किंतु कोमल स्वर्गीय संगीत की प्रतिमा तथा स्थायी कीर्ति सौरभ वाले प्राणी देखे जाते हैं। उन्हीं से स्वर्ग का अनुमान कर लिया जा सकता है'।

उसमें निर्लिप्त ममत्व और उत्साह भर रह जाता है। जिस समय भीमवर्मा ने उससे कहा—'सम्राट् ने तुम्हें बचाने के पुरस्कार-स्वरूप मातृगुप्त को काश्मीर का शासक बना दिया है'। उसने केवल इतना ही कहा—'सम्राट् की महानुभावता है! भाई मेरे प्राणों का इतना मूल्य'। इसके अतिरिक्त जिस समय उसके संमुख स्कंद द्वारा आर्यसाम्राज्य के उद्धार की चर्चा की गई उसका उत्तर भी बड़ा संक्षिप्त और तटस्थ रूप का है—'मंगलमय भगवान् सब मंगल करेंगे। भाई! साहस चाहिए, कोई वस्तु असंभव नहीं'। इन उत्तरों में किसी प्रकार की आसक्ति या उल्लास नहीं दिखाई पड़ता। अंतस् का कठोर गांभीर्य प्रायः निर्जीव कर दिया गया है। यहाँ से लेकर अंत तक देवसेना में शुद्ध कर्मयोग ही मिलता है। अब उसकी दृष्टि स्व से सर्वथा पृथक् होकर परम की ओर बढ़ गई है।

'साम्राज्य तो नहीं है, मैं बचा हूँ। वह अपना ममत्व तुम्हें अर्पित करके उऋण होऊँगा और एकांतवास करूँगा........देवसेना! किसी कानन के कोने में तुम्हें देखता हुआ जीवन व्यतीत करूँगा। साम्राज्य की इच्छा नहीं—एक बार कह दो'। स्कंदगुप्त के ममत्व-भरे इस आत्मनिवेदन ने उसकी आध्यात्मिक लालसा

परितृप्त कर दी, इससे उसके हृदय की भूख शांत हो गई। परन्तु दृढ़ स्वभाव की वह गंभीर रमणी बहुत ऊँचे स्तर पर खड़ी होकर उत्तर देती है—'क्षमा हो सम्राट्! उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे, अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्त्व को कलंकित न करूँगी। मैं आजीवन दासी बनी रहूँगी, परंतु आपके प्राप्य में भाग न लूँगी × × इस हृदय में × × आह! कहना ही पड़ा, स्कंदगुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा। नाथ! मैं आपकी ही हूँ, मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती'। इस उत्तर-प्रत्युत्तर में जहाँ एक ओर स्कंद में कर्तव्य और दायित्व से भरा ऐकांतिक प्रेम है वहाँ दूसरी ओर देवसेना में आत्मसंमान एवं अभिमानी भक्त की सी निष्काम उपासना है। कल्याण की साधना में दोनों साधकों का तुल्ययोग है।

मर्यादा और आत्मसंमान प्रिय होने के कारण अथवा दृढ़व्रत और स्वभावतः गंभीर होने के कारण देवसेना का बाह्य रूप भले ही कुछ कठोर हो गया हो परंतु भीतर प्रेम की मधुर भावना ने हृदय को रमणीय रूप दे रखा है। बाहर तो अवश्य ही नियंत्रण और संयम से भरे उक्त वचन निकले परंतु भीतर कामना का मधुर उच्छ्वास रह-रहकर सिर उठाता रहा। बाहर वह भले ही देवता का रूप बनाये रहती है, परंतु भीतर मानव-भावनाएँ भी तरंगित होती रहती हैं। द्वंद्व का यही रूप देवसेना के व्यक्तित्व का प्राण है। 'हृदय की कोमल कल्पना! सो जा। जीवन

में जिसकी संभावना नहीं, जिसे द्वार पर आए हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए अच्छी बात है'। इस पुकार मचाने में जो सुंदर और प्रकृत मानव है वह देवसेना को पाषाण-देवी होने से बचा लेता है। इस आदर्शोन्मुख यथार्थ में ही तो उसके चरित्र का विकास हुआ है। अंत में भी यही दिखाई पड़ता है कि वह केवल 'नंदन की वसंतश्री अमरावती की शची और स्वर्ग की लक्ष्मी ही नहीं' है वरन् मृत्युलोक की कामना एवं आशामयी मानवी भी है। स्कंदगुप्त को क्षोभ और दुःख से विह्वल देखकर वह 'मेरे इस जीवन के देवता' ही कहकर रुक नहीं जाती, आगे 'और उस जीवन के प्राप्य' भी कहती है। यही उसके चरित्र की विशिष्टता है।

देवसेना अपने ही में डूबी अनन्य प्रेमिका के रूप में ही रह गई हो ऐसी बात नहीं है। अपनी रहस्य-भावना और संगीत को लेकर केवल कल्पना-लोक में ही विचरती रही हो यह बात भी नहीं रह जाती है। वह अपनी वर्गगत विशेषता का भी अच्छा प्रतिनिधित्व करती है। वह सच्ची क्षत्राणी के रूप में भी सामने आई है। आसन्न विपत्ति में निर्भीक रहकर अपने कुल की मर्यादा के लिए अपने कोमल शरीर को भी नष्ट कर सकती है। हूणों के आक्रमणकाल में छुरी लेकर अपने शरीर तथा अन्तःपुर की रक्षा में योग देती है। युद्ध से रंचमात्र त्रस्त अथवा उद्विग्न नहीं दिखाई पड़ती। उस समय भी उसमें स्वभावज शांति, गांभीर्य एवं भावुक निरालापन वर्तमान रहता है। अपने दायित्व का विचार

कर दृढ़तापूर्वक अन्तःपुर की रक्षा में तत्पर होकर कहती है—'भइया ! आप निश्चिंत रहिए'।

इसके अतिरिक्त उसमें देश-प्रेम का बड़ा त्यागपूर्ण प्रसार दिखाई पड़ता है। देश की संमान-रक्षा में जिस सहिष्णुता, सेवा, त्याग और निष्ठा की आवश्यकता रहती है, उसमें वे सभी गुण वर्तमान हैं। आत्मसमर्पण-पूर्ण उदारता की उसमें कमी नहीं है। देश कल्याण के निमित्त राज्य-त्याग में जयमाला को हिचकते पाकर उसे उत्साहित करती है—'क्षुद्र स्वार्थ, भाभी, जाने दो, भइया को देखो ! कैसा उदार, कैसा महान् और कितना पवित्र'। परंतु अंत तक जयमाला को अपने मंतव्य में स्थिर देखकर देश-भक्तों की मंडली में स्वयं भी मिल जाती है। राज-वैभव और आनंद-लालसा उसे विचलित नहीं करती। देश-रक्षा में संनद्ध वीरों की सेवा का कार्य स्वीकार कर लेती है। जयमाला को राज्य-भार देकर जाते हुए बंधुवर्मा से वह कहती है—'चलो भाई, मैं भी तुम लोगों की सेवा करूँगी'। तदनंतर फिर तो वह महादेवी की समाधि परिष्कृत करती और गाकर भीख माँगती दिखाई पड़ती है। अब वह राज-रूप से सर्वथा तटस्थ है। विलास और नीच वासना से भ्रष्ट साधारणजन भी उस पर कुरुचिपूर्ण व्यंग्य बोलते और परिहास करते हैं। यह दशा देखकर पर्णदत्त भले ही क्रुद्ध होता है परंतु वह महनीय आर्य बाला सहिष्णुता की पराकाष्ठा ही दिखाकर रह जाती है। नीचों की बातों का तनिक भी बुरा नहीं मानती। क्रुद्ध पर्णदत्त को समझाते

हुए वह कहती भी है—'क्या है बाबा ! क्यों चिढ़ रहे हो। जाने दो, जिसने नहीं दिया उसने अपना, कुछ तुम्हारा तो नहीं ले गया'। इस घोर संतोष और पवित्र सहिष्णुता के मूल में देश-प्रेम है। उच्च लक्ष्य की साधना में अपनेपन को भूल ही जाना पड़ता है। वह भीख भी अपने लिए तो माँगती नहीं, माँगती है साम्राज्य के निरवलंब बिखरे हुए रत्नों की रक्षा के निमित्त, देश के लिए वह सब कुछ करने को प्रस्तुत है। देश-प्रेम से ही प्रेरित होकर वह स्कंदगुप्त के उस प्रस्ताव का विरोध करती है जिसमें उन्होंने एकांत में, किसी कानन के कोने में, उसे देखते हुए जीवन व्यतीत करने की इच्छा प्रकट की है। देश का एकमात्र सहारा, उसके निमित्त अपने पुण्य आचरण को छोड़ दे, इससे बढ़कर हीनता की बात उसके लिए और क्या हो सकती है। इसके अतिरिक्त अपने प्रियतम को देश-प्रेम ऐसे उदात्त कर्म से वह स्वयं विमुख करे यह असंभव ही है। उसने प्रस्ताव का विरोध करते हुए कहा—'मालव का महत्त्व तो रहेगा ही, परंतु उसका उद्देश्य भी सफल होना चाहिए। आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित नहीं रहेगी'।

**पर्णदत्त**

पर्णदत्त उन व्यक्तियों में है जो अपने निर्मल चरित्र की झलक मात्र दिखाकर मानव-हृदय को मुग्ध कर लेते हैं। संपूर्ण नाटक में केवल दो ही स्थलों पर उसके कार्य और चरित्र को देखने का अवसर मिलता है। वह गुप्त-साम्राज्य का प्रमुख योद्धा

और सेनापति है। उसकी वीरता की लेखमाला शिप्रा और सिंधु की लोल लहरियों से लिखी जाती है, शत्रु भी उसकी वीरता की सराहना करते सुने जाते हैं। इस आज्ञाकारी सेवक ने वृद्ध होने पर भी गरुड़ध्वज लेकर आर्य चंद्रगुप्त की सेना का संचालन किया है। अभी तक उसके मन में यह वीरोचित कामना बनी है कि गुप्त-साम्राज्य की नासीर सेना में उसी गरुड़ध्वज की छाया में पवित्र क्षात्रधर्म का पालन करते हुए उसके मान के लिए मर मिटूँ। गुप्त-साम्राज्य पर आपत्तियों के बादल मँड़रा रहे हैं और कोई योग्य कर्णधार सामने नहीं आता यह देखकर पर्णदत्त बड़ा क्षुब्ध और अधीर हो रहा है। युवराज स्कंदगुप्त को राज्याधिकार की ओर से उदासीन पाकर वह और भी निराश हो जाता है। उसे अनेक प्रकार से उद्बोधन देता है, उत्साहित करता है और अंत में सच्चे हितेच्छु की भाँति उसी समय हृदय से प्रसन्न होता है जब स्कंद कहता है—'अकेला स्कंदगुप्त मालव की रक्षा करने के लिये संनद्ध है'। गुप्त-साम्राज्य के हित के विरुद्ध अपने पुत्र तक को बोलता पाकर उसे डाँट देता है—'हम लोग साम्राज्य के सेवक हैं। असावधान बालक ! अपनी चंचलता को विष-वृक्ष का बीज न बना देना'। इस साम्राज्य-हितेच्छा के अतिरिक्त वह शुद्ध वीर है, उसमें उत्साह है और अपने बाहुबल पर उसे बड़ा भरोसा है। युवराज से यह सुनकर भी कि 'अभी राजधानी से सहायता की कोई आशा नहीं है और इस आसन्न विपद् में अपना ही भरोसा है' उसके उत्साह में कोई कमी नहीं होने पाती। वह उसी

प्रकार साहस बनाए रहता है और स्कंद से कहता है—'कुछ चिंता नहीं युवराज ! भगवान् सब मंगल करेंगे । चलिए, विश्राम करें ।'

इसके उपरांत पर्णदत्त का फिर कुछ पता ही नहीं रहता । स्कंद के राज्यारोहण के अवसर पर इस बात की सूचना भर मिल जाती है कि वह सौराष्ट्र की चंचल राष्ट्र-नीति की देखरेख में लगा है । इससे भी इतना तो अवश्य ही विदित हो जाता है कि ऐसे आनन्द के समय में भी वह तन्मय होकर अपनी ध्येय-प्राप्ति और कर्तव्य पालन में तत्पर है । इस अवसर के बाद तो फिर वह भी देवसेना के साथ भीख माँगता दिखाई पड़ता है । जिस समय कुभा पार करते हुए ससैन्य स्कंदगुप्त प्रवाह में बह जाता है और उसके उपरांत कुछ दिनों तक संपूर्ण साम्राज्य की सैनिक स्थिति अशृंखलित हो जाती है उस समय इस वृद्ध सेनापति के संमुख केवल एक कर्तव्य रह जाता है कि वह टूटी-फूटी सेना की रक्षा करे और पुनः जब तक सुअवसर न आवे तब तक बचे बचाए सैनिकों का जीवन-निर्वाह करता रहे । राज्यक्रांति और दारिद्र्य के कारण अन्न के लाले पड़े हैं, लोग भूख से तड़प रहे हैं, ऐसी अवस्था में पर्णदत्त ने जो कार्य-भार अपने ऊपर लिया है वह मनुष्यता के नाते और राजनीतिक विचार से भी आवश्यक है । अपनी दुर्दशाग्रस्त परिस्थिति का वह स्वयं उल्लेख इस प्रकार करता है— सूखी रोटियाँ बचा कर रखनी पड़ती हैं । जिन्हें कुत्तों को देते हुए भी संकोच होता था । उन्हीं कुत्सित अन्नों का संचय । अक्षय-निधि के समान उन पर पहरा देता हूँ । क्योंकि उसके ऊपर

सैंकड़ों अनाथ वीरों के बालकों का भार है। वे युद्ध में मरना जानते हैं, परन्तु भूख से तड़पते हुए उन्हें देखकर आँखों से रक्त गिर पड़ता है'। उसे दुःख तो तब होता है जब देश की दुर्दशा होते देखकर भी देश के युवक विलासिता और वासनाओं में ही लिप्त दिखाई पड़ते हैं। फिर भी अपना कर्तव्य तो पालन करना ही पड़ेगा यह समझकर अपना काम करता चलता है—'भीख दो बाबा, देश के बच्चे भूखे हैं, नंगे हैं, असहाय हैं, कुछ दो बाबा'।

इस स्थिति में उसे अपना जयजयकार भी प्रिय नहीं है, क्योंकि उसके लक्ष्य-साधन में वह किसी प्रकार सहायक नहीं हो सकता है। वह तो देश की मुक्ति चाहता है जिसके लिए प्राणों का उत्सर्ग करने वाले वीरों की आवश्यकता है; अथवा द्रव्य चाहता है जिसके योग से वह अपनी सिद्धि प्राप्त कर सके। अतः जय-ध्वनि से वह चिढ़ उठता है—'मुझे जय नहीं चाहिए, भीख चाहिए। जो दे सकता हो अपने प्राण, जो जन्मभूमि के लिए उत्सर्ग कर सकता हो जीवन, वैसे वीर चाहिए, कोई देगा भीख में'। सच्चे हृदय की पुकार निष्फल नहीं जाती। उसे भीख माँगते हुए स्कंदगुप्त विक्रमादित्य सरीखे वीर मिल जाते हैं और उसके जीवन का चरम लक्ष्य पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार पर्ण-दत्त आद्यंत सच्चे वीर योद्धा की भाँति साम्राज्य की हितकामना में लगा रहता है। संकट काल में अनेक विकट समस्याओं का सामना करता है, परन्तु अपने कर्तव्य-पथ से डिगता नहीं। वह सच्चा देशभक्त है।

## बंधुवर्मा

बंधुवर्मा उन पात्रों में है जिसका संबंध कथानक के बीच से आरंभ होता है और कुछ काल तक योगवाही रूप में चलकर समाप्त हो जाता है। यों तो ऐसे पात्रों को प्रमुख स्थान नहीं मिलता, पर बंधुवर्मा में एक विशेषता है। उसके युद्ध में प्राण-विसर्जन कर देने के उपरांत भी उसकी शक्ति और प्रभाव जीवित बने रहते हैं। उसकी समाप्ति तो वस्तुतः उसी समय होती है जब उसके सहयोगी उस लक्ष्य की प्राप्ति कर लेते हैं जिसके लिए उसका जीवन समर्पित था। थोड़े काल के लिए ही इस भव में आकर बंधुवर्मा अमर हो जाता है। नाटक के वस्तु विन्यास में उसकी चरितावली का एक चमत्कार है। उसकी उदारता और त्याग विशेष प्रकार के हैं। वह फल-प्राप्ति के प्रासाद की दृढ़ नींव बन जाता है। उसमें सच्ची क्षात्र-भावना का उज्ज्वल स्वरूप दिखाई पड़ता है।

विजया पर किया हुआ जयमाला का व्यंग्य उसे अप्रिय लगता है। अपने आश्रित के प्रति कठोर और अप्रिय सत्य का प्रयोग भी साधारण सौजन्य के विरुद्ध है। अपनी पत्नी के अप्रिय व्यंग्य के कारण उसकी व्यावहारिक शिष्टता को चोट लगती है—'प्रिये! शरणागत और विपन्न की मर्यादा रखनी चाहिए'। जब कि संभवतः शक और हूणों की संमिलित वाहिनी से आज दुर्ग की रक्षा न कर सकेगा—ऐसी जटिल समस्या सामने खड़ी हो उस समय भी उक्त बात पर इतना ध्यान, उसकी सुजनता का द्योतक है। उसका व्यवहार-ज्ञान दूसरे रूप में भी दिखाई पड़ता है। अल्प काल

में ही वह भलीभाँति समझ जाता है कि 'आर्यावर्त का एकमात्र आशा-स्थल युवराज स्कन्दगुप्त है'। किससे सहयोग कर, किस पर अपने सर्वस्व को निछावर करके वह इस आपत्ति-काल में साम्राज्य की रक्षा एवं देश का कल्याण कर सकता है इसका निर्णय वह तुरंत कर लेता है। निर्णय के अनुसार अपना कर्तव्य भी स्थिर कर लेता है—'मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब से इस वीर परोपकारी के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है'।

परिस्थिति की गहनता से प्रेरित होकर यही प्रतिज्ञा उस पुण्य महापर्व का कारण बन जाती है जो बंधुवर्मा के जीवन में मंगल का रूप है। स्कंदगुप्त अपनी राजधानी में शक्ति-संचय नहीं कर सकता। पारिवारिक दुरभिसंधि के फेर में पड़ने से देश का अहित हो सकता है। इसलिए आवश्यक समझकर महात्याग के लिए वह अपने को प्रस्तुत कर लेता है। इसके लिए उसे आधार और तर्क भी मिल जाते हैं—'महाराज सिंहवर्मा ने एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया था। अब उनके वंशधर ही उस राज्य के स्वत्वाधिकारी हैं, परन्तु उस राज्य का ध्वंस हो चुका था, म्लेच्छों की संमिलित वाहिनी उसे धूल में मिला चुकी थी ×× तब इन्हीं स्कन्दगुप्त ने उसकी रक्षा की थी, यह राज्य अब न्याय से उन्हीं का है'। इस प्रस्ताव का विरोध जब जयमाला करती है तो वह समझाता है और अपना मंतव्य स्पष्ट कर देता है—'आर्यावर्त का जीवन स्कंदगुप्त के कल्याण से है और उज्जयिनी में साम्राज्याभिषेक का अनुष्ठान होगा, सम्राट् होंगे स्कंदगुप्त'। देश की उपकार

की तुलना में अपने राज्य का ममत्व वह कुछ नहीं मानता। राज-सिंहासन सुख और शारीरिक विलासिता का केंद्र है और क्षत्रियों का कर्तव्य है—आर्तत्राण-परायण होना, विपद का हँसते हुए आलिंगन करना, विभीषिकाओं की मुसक्याकर अवहेलना करना, और—विपन्नों के लिए और अपने धर्म के लिए, देश के लिए प्राण देना'। इसी विचार के अनुसार अपना राज्य-त्याग कर वह सैनिक-पद स्वीकार करता है—'बंधुवर्मा तो आज से आर्य-साम्राज्य-सेना का एक साधारण पदाति सैनिक है'। इसी आन पर अंत तक वह अड़ा रहता है और यही प्रचारित करता है कि 'मालव का राज-कुटुंब, एक-एक बच्चा, आर्य-जाति के कल्याण के लिए जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत है'।

वह उत्साह से भरे सच्चे सैनिक और योद्धा के रूप में ही अमर है। वह कोई राजनीतिक पुरुष नहीं है। वह स्वयं अपनी शक्ति को जानता है—'बन्धुवर्मा मरने-मारने में जितना पटु है, उतना षड्यंत्र तोड़ने में नहीं'। सच्चे वीर की भाँति कर्तव्य-पालन के लिए अपने प्रिय स्कंद के सामने भी अड़ जाता है—'यहाँ हूणों को रोकना मेरा ही कर्तव्य है, उसे मैं ही करूँगा'। इसी कर्तव्य-पालन में उसकी मृत्यु होती है और वह त्यागवीर दम तोड़ते-तोड़ते भी 'आर्य-साम्राज्य की जय !' गाता जाता है।

**जयमाला**

जयमाला में सच्ची क्षत्राणी का यथार्थ एवं प्रकृत रूप मिलता है। वह 'आग की चिनगारी और ज्वालामुखी की सुन्दर लट

के समान है'। दो-चार ही स्थलों पर वह संमुख आती है परन्तु उसके व्यक्तित्वपूर्ण चरित्र में उज्ज्वलता भरी है। उसमें उत्साह, स्वावलंबन और गौरव का विचार है—'हम क्षत्राणी हैं, चिर-संगिनी खड्गलता का हम लोगों से चिर स्नेह है'। केवल इसी कथन में उसका संपूर्ण तेज झलकता दिखाई पड़ता है। वह युद्ध को गान समझती है और उसे ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का निरंतर संगीत मानती है। क्षत्रियोचित स्वाभिमान का उसमें उग्र स्वरूप दिखाया गया है। युवराज की सहायता पर आशा लगाए अपने पति को उपालंभ देती हुई वह उसे उत्साहित करती है साथ ही अपने दायित्व का विचार कर पति के कर्तव्यपालन में योग भी देती है। एक साथ ही उसमें निर्भीकता, गर्व, स्वावलंवन, उत्तरदायित्व, वीरता आदि गुण झलक उठते हैं। आसन्न विपत्ति में भी वह सदैव की भाँति स्थिर भाव से तत्पर दिखाई पड़ती है—'क्या मालवेश को दूसरे की सहायता पर ही राज्य करने का साहस हुआ था। जाओ प्रभु ! सेना लेकर सिंह-विक्रम से सेना पर टूट पड़ो। दुर्गरक्षा का भार मैं लेती हूँ'। उसके इस कथन में गर्व और आत्मविश्वास भरा हुआ है।

जयमाला देवसेना की भाँति भावना-लोक की दूती नहीं है। वह यथार्थ जगत की मानवी है। उसमें स्त्री-सुलभ व्यंग्य, वेदना, स्पष्टवादिता और पार्थिव ममत्व भी है। विजया को भयभीत होते देखकर वह उसकी भर्त्सना में व्यंग्य का भी प्रयोग करती है। परिस्थिति के विचार से उसका व्यंग्य कटु होने पर

भी यथार्थ है—'स्वर्ण-रत्न की चमक देखनेवाली आँखें बिजली-सी तलवारों के तेज को कब सह सकती हैं'। इसके अतिरिक्त बंधुवर्मा के राज्य-दान का प्रस्ताव भी उसे अच्छा नहीं लगता। पैतृक संपत्ति का ममत्व वह सरलता से नहीं छोड़ सकती। अपना राज्य छोड़कर दूसरों की सेवा करनी पड़ेगी यही आशंका उसे चिंतित करती है। चिंता का यह रूप शुद्ध मानवीय है। इसे जयमाला के चरित्र की दुर्बलता नहीं कहा जा सकता। इसी बल पर वह व्यावहारिक जगत् की सच्ची प्रतिनिधि है। स्कंदगुप्त और देवसेना को संभवतः सामान्य मानवों की पंक्ति में स्थान न मिलेगा, परंतु उसे हम अवश्य अपने बीच में देख सकते हैं। देव-सेना की उदार वाणी का भी वह स्पष्ट शब्दों में विरोध करती है—'विश्वप्रेम, सर्वभूत-हित-कामना परम धर्म है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि अपने पर प्रेम न हो'।

वह विरोध करती है परन्तु उसमें दुराग्रह का रूप नहीं है। जब उसने देखा कि प्रस्ताव के पक्ष में सभी की संमति है तो मर्यादा और पद का विचार करके आग्रह छोड़ देती है—'जब सभी लोगों की ऐसी इच्छा है, तब मुझे क्या।' इन शब्दों में सब के संमुख वह अपनी हार स्वीकार कर लेती है। उक्त प्रस्ताव का गुरुत्व और उसके मूल में जो आत्मत्याग है उसका विचार करती है; साथ ही देशहित की बात भी सोचती है। पति के प्रति अपने कर्तव्य-भाव का भी वह ध्यान करती है—'पतिदेव! आपकी दासी क्षमा माँगती है। मेरी आँखें खुल गईं। आज

हमने जो राज्य पाया है वह विश्व-साम्राज्य से भी ऊँचा है'। इस कथन में जो प्रणति और आत्मसमर्पण है वह वस्तुतः उसी कर्तव्यभाव से प्रेरित है। आगे चलकर तो इसी आत्मसमर्पण का स्थूल रूप भर रहा जाता है। राज्यारोहण उत्सव में स्कंदगुप्त से वह स्वयं प्रस्ताव करती है—'देव ! यह सिंहासन आपका है, मालवेश का इस पर कोई अधिकार नहीं—आर्यावर्त के सम्राट् के अतिरिक्त अब दूसरा कोई मालव के सिंहासन पर नहीं बैठ सकता'।

भटार्क

गुप्त-साम्राज्य का नवीन महाबलाधिकृत भटार्क विचारशील, चतुर, स्वाभिमानी, षड्यंत्र में पटु, महत्त्वाकांक्षी एवं वीर योद्धा है। उसमें भारतीय धीरोद्धत नायक का अच्छा रूप दिखाई पड़ता है। उसे अपनी तलवार का विश्वास है और अपनी वीरता का अभिमान है—'क्या मेरी खड्गलता आग के फूल नहीं बरसाती। क्या मेरे रणनाद वज्रध्वनि के समान शत्रु के कलेजे नहीं कंपा देते। क्या भटार्क का लोहा भारत के क्षत्रिय नहीं मानते'। वह दृढ़निश्चयी भी है। साध्य और साधन का रूप एक बार स्थिर कर लेने पर कड़ाई से काम लेता है। शर्वनाग को इधर-उधर करते देखकर उसने स्पष्ट कह दिया—'इस चक्र से तुम नहीं निकल सकते, या तो करो या मरो। मैं सज्जनता का स्वाँग नहीं ले सकता, मुझे वह नहीं भाता। मुझे कुछ लेना है, वह जैसे मिलेगा लूँगा। साथ दोगे तो तुम भी लाभ में रहोगे'।

गुण भी कुत्सित भावना से प्रेरित होकर विषाक्त बन जाते हैं। भटार्क ऐसा वीर भी अपनी महत्त्वाकांक्षा और प्रतिशोध की भावना से नियंत्रित होने के कारण अनंतदेवी के पाश में फँस जाता है। फिर तो ऐसा जकड़ जाता है कि अंतःकरण की प्रेरणा होने पर भी षड्यंत्र से निकल नहीं पाता। इसे वह अपना दुर्भाग्य ही मानता है उसकी स्थिति बड़ी विषम हो गई है। अन्यथा वह इतना नीच नहीं है; परंतु वह विवश है। एक बार हाँ करके अब मुकरे कैसे। वह अनंतदेवी के उपकार को मानता है। उसी ने उसे महत्त्व का पद दिलाया है। उसी की कृपा से वह साम्राज्य का महाबलाधिकृत बन सका है। एक तो यह भी कारण है जिससे वह अनंतदेवी के कुचक्र में पड़ता है। उसने आश्वासन-भरे शब्दों में अपनी कृतज्ञता प्रकट की है—'मैं कृतघ्न नहीं हूँ। महादेवी! आप निश्चिंत रहें'। दूसरा कारण प्रतिशोध का विचार है। पुष्यमित्रों के युद्ध में उसे सेनापति की पदवी नहीं मिली। उस पर विरोधियों ने व्यंग्यपूर्ण आक्षेप किए हैं। यह वह सहन नहीं कर सकता। उसके मन में विद्वेष उत्पन्न होता है। अपने हृदय की इस कटु स्थिति को उसने अनंतदेवी के संमुख प्रकट किया है—'महादेवी! कल सम्राट् के समक्ष जो विद्रूप और व्यंग-बाण मुझ पर बरसाए गए हैं, वे अन्तस्तल में गड़े हुए हैं। उनके निकालने का प्रयत्न नहीं करूँगा, वे ही भावी विप्लव में सहायक होंगे × × मेरा हृदय शूलों के लौहफलक सहने के लिए है, क्षुद्र विष-वाक्य- बाण के लिए नहीं'। इसी

व्यंग्य से उत्तेजित होकर वह पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार इत्यादि को आत्महत्या के लिए विवश करता है। इस अनर्थकारी कार्य-व्यापार से भी वह एक प्रकार से दुखी ही दिखाई पड़ता है। उसके भीतर का मानव-हृदय कराह उठा है—'परन्तु भूल हुई। ऐसे स्वामिभक्त सेवक'। परन्तु कृतनिश्चय की कठोरता उस कराह को दबा देती है। वह अपने को सांत्वना दे लेता है—'तो जाँय, सब जाँय, गुप्त-साम्राज्य के हीरों के से उज्ज्वल हृदय, वीर युवकों का शुद्ध रक्त, सब मेरी प्रतिहिंसा राक्षसी के लिए बलि हों'।

असत् का पलड़ा सदैव हलका रहता है। भटार्क ऐसा वीर योद्धा भी कुमार्गियों के चक्र में पड़कर गिरता है। उसकी कृति बिगड़ती है। उसकी आत्मा का हनन होता है और उसका सारा तेज नष्ट हो जाता है। परिणाम-रूप में उसे कई बार मुँह की खानी पड़ती है। महादेवी देवकी की हत्या करते समय स्कंदगुप्त से पराजित होता है, गोविंदगुप्त के सामने तलवार निकालते ही तलवार छीन ली जाती है और अंत में स्कंदगुप्त के संमुख बंदी होकर आता है। उस समय स्कंदगुप्त जो अपनी माता की इच्छा के अनुसार सब को मुक्त कर देता है उसका प्रभाव भटार्क पर भी पड़ता है। इस कारण सद्भावना एक बार उसमें पुनः उमड़ती है और देवसेना की हत्या के समय वह एक बार फिर विचार करता है—'मैं कृतघ्नता से कलंकित होऊँगा और स्कंदगुप्त से मैं किस मुँह से...नहीं नहीं...' परन्तु प्रपंचबुद्धि के स्मरण दिलाने पर कि वह पहले अनंतदेवी और पुरगुप्त से प्रतिश्रुत हो चुका

है विवश हो जाता है। उसमें सद्बुद्धि एकदम विलुप्त नहीं हो गई है, प्रत्यावर्तन चाहता है पर कर नहीं पाता और इसी प्रकार असंकल्पित पाप करता चलता है। इसे वह अपना दुर्भाग्य ही मानता है—'पाप-पंक में लिप्त मनुष्य को छुट्टी नहीं। कुकर्म उसे जकड़कर अपने नाग-पाश में बाँध लेता है। दुर्भाग्य!' इसी तरह जब वह स्कंद द्वारा अपने ऊपर किए उपकारों का अनुकथन करने लगता है और प्रपंचबुद्धि उससे कहता है—'तुम मूर्ख हो! शत्रु से बदला लेने का उपाय करना चाहिए न कि उसके उपकारों का स्मरण'। तब उसे यह हीनता खलती है, और वह स्पष्ट विरोध करता है—'मैं इतना नीच नहीं हूँ'। परन्तु वह अपने को उस खल मंडली के विषाक्त वातावरण से मुक्त कर नहीं पाता; यही विवशता उसकी बेड़ी बन जाती है।

विवश होकर ही क्यों न हो जब एक बार स्कंदगुप्त का विरोध करने और अनंतदेवी का साथ देने का निश्चय कर लेता है तब कोई बात उठा नहीं रखता। विजया के कहने पर—'अहा! यदि आज राजाधिराज कहकर युवराज पुरगुप्त का अभिनंदन कर सकती'। वह तुरंत उत्तर देता है—यदि मैं जीता रहा तो वह भी कर दिखाऊँगा'। इसके उपरांत तो वह उबल पड़ता है; चेष्टा करता है कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर ले। खिंगिल के दूत से अपना अंतरंग अभिप्राय कहता है—'हूणों को एक बार ही भारतीय सीमा से दूर करने के लिए स्कंदगुप्त ने समस्त सामंतों को आमंत्रण दिया है। मगध की रक्षक सेना भी उसमें संमिलित होगी और

मैं ही उसका परिचालन करूँगा। वहीं इसका (खिंगिल के प्रति सचाई का) प्रत्यक्ष प्रमाण मिलेगा'। इसी प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए—'मेरा खड्ग साम्राज्य की सेवा करेगा'—कहकर भी वह स्कंदगुप्त के साथ विश्वासघात करता है। हूण-सेना के इस पार आने पर उसका मार्ग-प्रदर्शन करता है और कुभा का बाँध इस प्रकार काट देता है कि सेनासहित स्कंद उसमें वह जाता है। जहाँ तक हो सका है अनंतदेवी की सहायता के निमित्त वह अपने व्यक्तित्व को गिराने में भी हिचकता नहीं। वह सब कुछ करता है, परन्तु सदैव स्कंदगुप्त के व्यक्तित्व से प्रभावित होता रहता है। अपनी अंतिम करनी के कारण पीछे उसमें ग्लानि उत्पन्न होती हैं। वह विचार करता है—देश और देश के सच्चे उद्धारक का इतनी नीचता से विरोध करके उसने क्या लाभ किया। थोड़े से भौतिक लाभ के लिए इतना जघन्य जीवन उसे प्रिय नहीं लगता।

ग्लानि से प्रायश्चित्त की भावना उत्पन्न होती है और प्रायश्चित्त से आत्म-परिष्कार आरंभ होता है। भटार्क ऐसे दृढ़निश्चयी, वीर योद्धा के मन में यदि अपने प्रति ग्लानि उत्पन्न होती है तो परिणाम का सुन्दर होना अनिवार्य हो जाता है। यों तो बीच-बीच में सद्भावनाएँ उसके भीतर उठती हैं परन्तु परिस्थिति से आवद्ध रहने के कारण वह उनका अनुसारी परिणाम उपस्थित नहीं कर पाता। अपनी अंतिम नीचता से वह स्वयं सिहर उठता है। गिरिव्रज के युद्ध के उपरांत उसमें परिवर्तन उत्पन्न होता है। फिर तो जिस सचाई के साथ उसने विरोधी-दल का साथ दिया था उसी निश्चय

के साथ इस ओर मुड़ता है और देश के त्राण में सहायक बनता है। अपनी माता की भर्त्सना पाकर वह कहता है—'माँ, क्षमा करो! आज से मैंने शस्त्र त्याग किया। मैं इस संघर्ष से अलग हूँ, अब अपनी दुर्बुद्धि से तुम्हें कष्ट न पहुँचाऊँगा'। यहीं से उसमें पुण्य-प्रवृत्ति जगती है जिससे प्रेरित होकर तुरन्त वह सैनिकों को आज्ञा देता है—'महादेवी की अंत्येष्टिक्रिया राजसंमान से होनी चाहिए। चलो, शीघ्रता करो'। भटार्क का यह प्रत्यावर्तन प्रकृत है, क्योंकि मातृ-भक्ति उसमें आरंभ से ही दिखाई पड़ी है। कमला के पूछने पर कि 'तू मेरा पुत्र है कि नहीं' वह स्पष्ट स्वीकार करता है—'माँ! संसार में इतना ही तो स्थिर सत्य है और मुझे इतने ही पर विश्वास है। संसार के समस्त लांछनों का मैं तिरस्कार करता हूँ, किसलिए। केवल इसलिए कि तू मेरी माँ है और वह जीवित है'। अपनी ऐसी माता के संमुख वह असत्य नहीं बन सकता। उसके सामने अपना निश्चय प्रकट करने पर अब फिर वह मुख नहीं मोड़ सकता।

अपने जीवन की घटनाओं और उनके मूल में बैठी अपनी वृत्तियों की आलोचना जब वह स्वयं करने लगता है तो अपनी भूल की भीषणता से दुखी हो उठता है—'ऐसा वीर, ऐसा उपयुक्त और ऐसा परोपकारी सम्राट्! परन्तु गया, मेरी ही भूल से सब गया×× मेरी उच्च आकांक्षा, वीरता का दंभ पाखंड की सीमा तक पहुँच गया, अनंतदेवी! एक क्षुद्र नारी—उसके कुचक्र में, आशा के प्रलोभन में, मैंने सब विगाड़ दिया। सुना है कि कहीं

यहीं स्कंदगुप्त भी हैं, चलूँ उस महत् का दर्शन तो कर लूँ।' इस सुन्दर निश्चय को लेकर इधर आकर देखता है कि विजया स्कंद के सामने प्रेम का नाट्य कर रही है। ग्लानि से दुखी भटार्क क्षुब्ध हो जाता है। जिसके ऊपर अत्याचार करके वह भी लज्जित है और जिससे क्षमा-याचना करने वह स्वयं आया है उसी के प्रति अपनी पत्नी को अपराध करते पाकर और भी दुखी हो जाता है। आत्म-हत्या ही उसे अपने प्रायश्चित्त का सरल उपाय दिखाई पड़ता है। वह स्कंद को संबोधित करके कहता है–'देव! मेरी भी लीला समाप्त है'। छुरी निकालकर अपने को मारना ही चाहता है कि स्कंद हाथ पकड़ लेता है और उसे संप्रबोधन देता है—'तुम वीर हो, इस समय देश को वीरों की आवश्यकता है × × आत्महत्या के लिए जो अस्त्र तुमने ग्रहण किया है, उसे शत्रु के लिए सुरक्षित रक्खो'। इस प्रकार उसे उचित मार्ग का निर्देश मिल जाता है और वह तुरंत स्वीकार करता है -'जो आज्ञा होगी, वही करूँगा'। यहाँ आकर अब वह स्कंद का पूर्ण सहयोगी बन जाता है। विजया का रत्नगृह प्रकट होने पर स्कंदगुप्त कहता है—भटार्क! यह तुम्हारा है'। परन्तु भटार्क तो देश का हो चुका है, अतः वह तदनुकूल उत्तर देता है—'हाँ सम्राट्! यह हमारा है, इसलिए देश का है। आज से मैं सेना-संकलन में लगूँगा'। भटार्क का यह प्रत्यावर्तन बड़ा भव्य और मंगलमय है।

**विजया**

मालव के धनकुबेर की कन्या विजया के जीवन का प्रेय और

श्रेय सौंदर्य और महत्त्व है, वर्गगत विशेषता के रूप में धन का प्रेम भी उसमें दिखाई पड़ता है। राजनीतिक विप्लव में भी उसको केवल अपने धन की रक्षा का ध्यान है। उसकी संपत्ति की ओर यदि किसी की दृष्टि लगती है तो वह स्वार्थ-रक्षा के विचार से व्यावहारिक व्यंग्य से भी काम लेती है। जयमाला के प्रस्ताव पर उसका उत्तर—'किंतु इस प्रकार अर्थ देकर विजय खरीदना तो देश की वीरता के प्रतिकूल है'—इस बात का साक्षी है। वह वणिक-कुमारी शुद्ध क्षत्रियत्व की भावना और तेज को समझने में सर्वथा असमर्थ रहती है। 'स्वर्ण-रत्न की चमक देखनेवाली आँखें बिजली सी तलवारों के तेज को कब सह सकती हैं'। इसीलिए जयमाला के कहते ही—'दुर्ग-रक्षा का भार मैं लेती हूँ'—वह त्रस्त हो उठती है और तुरन्त बंधुवर्मा को संबोधित करके कहती है—'महाराज यह केवल वाचालता है। दुर्ग-रक्षा का भार किसी सुयोग्य सेनापति पर होना चाहिए'। देवसेना को युद्ध-काल में भी गाने का प्रस्ताव करते देखकर उसे बड़ा आश्चर्य होता है—'युद्ध और गान !' क्योंकि ऐसी भावना से उनका सहज विरोध है इसी प्रकार बाहर कोलाहल और भयानक शब्द होते सुनकर भी घबड़ा उठती है। जयमाला से कहती है—'महारानी किसी सुरक्षित स्थान में निकल चलिए'। छुरी लेने की बात सुनते ही उसके प्राण छूटने लगते हैं—'न न न, मैं लेकर क्या करूँगी, भयानक !' छुरी में भी कहीं सौंदर्य है इसके समझने की सहज शक्ति ही उसमें नहीं है।

विजया के चरित्र की दुर्बलता का प्रधान कारण है चंचलता। दृढ़ता, स्थिरता और विवेक-बुद्धि की उसमें अतीव न्यूनता है। पहले के क्षेत्र में इसी चंचलता ने उसे व्यभिचारिणी बना दिया है। पहले तो उसने स्कंदगुप्त की सुंदर मूर्ति देखी और उस पर लुभाई, परन्तु इस अनुराग-भावना में महत्व की आकांक्षा संनिहित थी। उसने देवसेना से स्वीकार किया है—'मुझे तो आज तक किसी को देखकर हारना न पड़ा। हाँ, एक युवराज के सामने मन ढीला हुआ, परन्तु मैं उसे कुछ राजकीय प्रभाव भी कहकर टाल दे सकती हूँ'। स्कंद को स्वीकार करने में तुरन्त ही उसे एक बाधा भी दिखाई देती है—'युवराज तो उदासीन है × × दुर्वलता इन्हें राज्य से हटा रही है'। स्कंद की विरक्ति-मूलक प्रवृत्ति देखकर वह भी उस ओर से विरक्त ही हो उठती है' क्योंकि उसके प्रणय का लक्ष्य शारीरिक स्वास्थ्य एवं सौंदर्य के साथ-साथ महत्त्व भी है। जहाँ इन दोनों का योग हो वहीं वह रम सकती है। स्कंद में एक पक्ष की न्यूनता उसे खटकी और वह घूम पड़ती है। समीप ही दूसरे व्यक्ति चक्रपालित को देखकर कह उठती है— 'चक्रपालित क्या पुरुष नहीं है। है अवश्य। वीर हृदय है। प्रशस्त वक्ष है, उदार मुखमंडल है'। उसके बचे हुए अंश की पूर्ति उसकी अंतरंग सखी देवसेना कर देती है—'और सबसे अच्छी बात एक है। तुम समझती हो कि वह महत्त्वाकांक्षी है। उसे तुम अपने वैभव से क्रय कर सकती हो'। प्रणय के अपने इसी मानदंड को लेकर वह आगे बढ़ती है।

भटार्क में उसे दोनों वस्तुएँ एकत्र मिल जाती हैं—'अहा! कैसी वीरत्व-व्यंजक मनोहर मूर्ति है और गुप्त-साम्राज्य का महाबलाधिकृत'। इसके अतिरिक्त उसे और कुछ नहीं चाहिए। उसमें स्त्री-सुलभ संदेह और प्रतिहिंसा का भाव बड़ा प्रबल है। वह सोचती है—'मैं मालव में अब किस काम की हूँ, जिसके भाई ने समस्त राज्य अर्पण कर दिया है कहाँ वह देवसेना और कहाँ मैं'। प्रेम-प्रणय को भी एक आवेश माननेवाली उस साधारण रमणी में वह विवेक कहाँ जिसके बल पर वह विचार कर सकती कि देवसेना और स्कंदगुप्त की यथार्थ स्थिति क्या है। स्थूल और प्रत्यक्ष को ही महत्त्व देने की शक्ति उसमें है। अकारण ही स्कंद की ओर बाधा देखकर वह निर्णय कर लेती है कि भटार्क ही सही। इस पर उसके साथ वह भी बंदिनी बनती है और न्यायाधिकरण में सब के संमुख स्वीकार कर लेती है—'मैंने भटार्क को वरण किया है। इतने ही से देवसेना के प्रति उसकी प्रतिहिंसा पूरी नहीं होती। आगे चलकर यही विरोध-भाव और भी उग्र हो उठता है—'राजकुमारी! आज से मेरी ओर देखना मत! मुझे कृत्या अभिशाप की ज्वाला समझना और × × मुझे न छेड़ना मैं तुम्हारी शत्रु हूँ × × उपकारों की ओट से मेरे स्वर्ग को छिपा दिया, मेरी कामना-लता को समूल उजाड़कर कुचल दिया'। इसके प्रतिदान में वह देवसेना को श्मशान के बलि-स्थान पर ले जाकर कापालिक प्रपंचबुद्धि के संमुख छोड़कर भाग जाती है। भ्रांति के गर्त में पड़ी विजया

इस प्रकार अपने कोमल आवरण में छिपे हुए विपाक्त और कठोर हृदय को सामने रख देती है।

भटार्क की मंडली में पहुँचकर भी विजया को शांति नहीं मिलती। कुछ दिनों तक अवश्य ही पुरगुप्त को राजाधिराज के रूप में अभिनंदन करने की कामना लिए हुए पात्र भर-भरकर पिलाती और इस प्रकार युवराज का मन बहलाती रहती है परंतु यह स्थिति भी अधिक दिनों तक नहीं चलती। अनंतदेवी भटार्क को अपने चंगुल से नहीं निकलने देती और विजया को पुरगुप्त की ओर लगाए रहती है, यह भेद उसकी समझ में आते ही उसमें फिर संदेह उत्पन्न होता है। अतएव अब उसका विरोध अनंत देवी से आरंभ होता है। यहाँ भी असफलता ही मिलती है। वह क्षुब्ध हो उठती है—'प्रलोभन से, धमकी से, भय से, कोई भी मुझको भटार्क से नहीं वंचित कर सकता × × मुझे तुम्हारा सिंहासन नहीं चाहिए। मुझे क्षुद्र पुरगुप्त के विलास-जर्जर मन और यौवन में ही जीर्ण शरीर का अवलंब वांछनीय नहीं'। परंतु अब क्या करे। यह समस्या उसके सामने आती है—'मैं कहीं की न रही। इधर भयानक पिशाचों की लीला-भूमि, उधर गंभीर समुद्र। दुर्बल रमणी-हृदय × × अपना अतुल धन और हृदय दूसरों के हाथ में देकर चलूँ कहाँ! किधर!' इत्यादि विचार करते-करते उन्मत्त हो उठती है, अपनी चिंता-तरंगों में उलझी हुई और भी सोचती है—'स्नेहमयी देवसेना का शंका से तिरस्कार किया, मिलते हुए स्वर्ग को घमंड से तुच्छ

समझा, देवतुल्य स्कंदगुप्त से विद्रोह किया, किसलिए! केवल अपना रूप, धन, यौवन दूसरे को दान करके उन्हें नीचा दिखाने के लिए'। इसी अंतर्जागर्ति का यह फल होता है कि शर्वनाग की प्रेरणा से उसमें परिवर्तन उपस्थित होता है और वह भी स्वीकार करती है—'तुमने सच कहा। सब को कल्याण के शुभागमन के लिए कटिबद्ध होना चाहिए। चलो।'

वस्तुतः क्रय-विक्रय और लेन-देन के विचार से अभी भी वह मुक्त नहीं हुई है। वणिक्-वृत्ति अभी तक उसमें जीवित है। उसका यह परिवर्तन सच्चा नहीं कहा जा सकता। उसकी इस कल्याण-कामना के मूल में भी एक क्षुद्र और भौतिक स्वार्थ लगा ही है—'देवसेना ने एक वार मूल्य देकर खरीदा था। परन्तु विजया भी एक वार वही करेगी × × मेरा रत्नगृह अभी बचा है उसे सेना-संकलन करने के लिए सम्राट् को दूँगी और एक बार बनूँगी महादेवी × × इसमें दोनों होगा स्वार्थ और परमार्थ'। इसी भावना से प्रेरित होकर वह फिर एक वार स्कंद के समीप पहुँचती है और उसके संमुख अपने प्रेम का प्रस्ताव रखती है—'तुम्हारे लिए मेरे अंतस्तल की आशा जीवित है × × मेरे पास अभी दो रत्नगृह छिपे हैं; जिनसे सेना एकत्र करके तुम सहज ही इन हूणों को परास्त कर सकते हो × × केवल तुम स्वीकार कर लो × × हमारे साथ बचे हुए जीवन का आनंद लो' इत्यादि। जब इसका कठोर अस्वीकारात्मक उत्तर स्कंद की ओर से पाती है और उसी समय भटार्क भी वहाँ सहसा पहुँचकर उसे भर्त्सना

देता है तो घोर अपमानित होकर, सब प्रकार से अपने को पराजित मानकर, वह आत्महत्या कर लेती है। इस प्रकार जीवन में उसे केवल हार ही हार मिली। इसका प्रधान कारण था उसके चरित्र की मानवीय दुर्बलताएँ—दंभ, अभिमान, लालसा, चंचलता और अविवेक।

## शर्वनाग

यों तो शर्वनाग नाटक के प्रमुख पात्रों में स्थान नहीं पा सकता परंतु उसका चरित्र-चित्रण प्रकृत एवं यथार्थ है; उसका नाटकीय जीवन छोटा और व्यक्तित्व साधारण है, फिर भी उतार-चढ़ाव के विचार से आलोच्य विषय बन गया है। हमारे सामने सर्व-प्रथम वह सच्चे सैनिक के रूप में आया है और केवल दो बातें जानता है—'सुंदरी खड्ग-लता' जिसकी प्रभा पर वह सदैव मुग्ध है और 'उसकी स्त्री' जिसके अभावों का कोष कभी खाली नहीं; जिसकी भर्त्सनाओं का भांडार अक्षय है, साथ ही जिससे उसकी अंतरात्मा काँप उठती है। जिस समय रामा उसे डाँटती है वह घबड़ा उठता है—'मैं क्रोध से गरजते हुए सिंह की पूँछ उखाड़ सकता हूँ, परंतु सिंहवाहिनी! तुम्हें देखकर मेरे देवता कूच कर जाते हैं × × × परंतु मुझे घबराओ मत, समझाकर कहो'। वह सीधा-सच्चा वीर योद्धा है। छल-कपट और षड्यंत्र से उसका कोई संबंध नहीं। शुद्ध हृदय को न तो किसी प्रकार का भय व्यापता और न चिंता। उसे केवल अपनी शक्ति पर अखंड विश्वास बना रहता है। इसी विश्वास पर उसके समस्त

व्यापार टिके रहते हैं और उसमें स्पष्टवादिता का प्रधान गुण भी विद्यमान रहता है। प्रपंचबुद्धि को अत्यंत सावधान और सशंक देखकर शर्व को आश्चर्य होता है। सशंक दृष्टि से फूँक-फूँककर पैर रखना उसकी वीर प्रकृति के लिए अस्वाभाविक है—'परंतु आप इतना चौंकते क्यों हैं। मैं तो कभी यह चिंता नहीं करता कि कौन आया है या कौन आवेगा × × × मैं खड्ग हाथ में लिए प्रत्येक भविष्यत् की प्रतीक्षा करता हूँ। जो कुछ होगा, वही निबटा लेगा। इतने डर की, घबराहट की, आवश्यकता नहीं। विश्वास करना और देना, इतने ही लघु व्यापार से संसार की सब समस्याएँ हल हो जायँगी'। उसे केवल अपने खड्ग और पुरुषार्थ पर भरोसा है। उसके कथन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह एक शुद्ध और वीर सैनिक है। उसके दृढ़ आचरण को देखकर ही प्रपंचबुद्धि और भटार्क ने उसे अपनी मंडली में मिलाने का प्रयत्न किया है। जब तक कुसंगति का विष उस पर नहीं चढ़ा तब तक वह निर्मल और निर्भय था। भटार्क ने जिस समय महादेवी के वध का प्रस्ताव उसके संमुख रखा उस समय उसने जिस धैर्य और दृढ़ता से उसका विरोध किया उससे उसका चरित्रबल स्पष्ट झलकता है—'नाप तौल मैं नहीं जानता, मुझे शत्रु दिखा दो। मैं भूखे भेड़िए की भाँति उसका रक्तपान कर लूँगा, चाहे मैं ही क्यों न मारा जाऊँ, परंतु निरीह हत्या—यह मुझसे नहीं × × × तुम सैनिक हो, उठाओ तलवार! चलो, दो सहस्र शत्रुओं पर हम दो मनुष्य आक्रमण करें। देखें मरने से कौन भागता है।

कायरता ! अबला महादेवी की हत्या। किसी प्रलोभन में तुम पिचाश बन रहे हो × × × नहीं भटार्क ! लाभ ही के लिए मनुष्य सब काम करता तो पशु बना रहना ही उसके लिए पर्याप्त था। मुझसे यह काम नहीं होने का'। परंतु यही शर्वनाग मदिरा के प्रभाव में पड़कर ऐसा गिरता है कि बुद्धि और विवेक से शून्य हो जाता है। फिर तो भटार्क के ही रंग में रँग जाता है। स्थिति-जन्य यह दुर्बलता शर्व में अच्छे ढंग से चित्रित हुई है। उन्मत्त होकर वह षड्यन्त्रकारियों के ऊपर विश्वास करके कहता है—'जो आज्ञा होगी वही करूँगा'। वह सोने के प्रलोभन और शराब की चाट से ऐसा गिरता है कि उसकी पशुता दुर्जेय हो जाती है। रामा के कितना समझाने पर भी वह नहीं सँभलता। उसे भी वह ठुकरा देता है—'जा, तू हट जा, नहीं तो मुझे एक के स्थान पर दो हत्याएँ करनी पड़ेंगी। मैं प्रतिश्रुत हूँ, वचन दे चुका हूँ'। रामा ने जब महादेवी की हत्या में बाधा दी तो पहले उसे ही मारने को उद्यत हो गया। यहाँ तक तो मदिरा से प्रभावित उसकी पशुता चलती है; पर सहसा स्कंदगुप्त आकर उसकी गर्दन दबाकर तलवार छीन लेता है। इसके उपरांत होश आने पर वह अपनी हीनता का विचार करता है। मदिरा से मुक्त होकर वह जब अपनी यथार्थ स्थिति देखता है तो उसे दुःख होता है।

जिस समय वह वन्दी-रूप में न्यायाधिकरण के संमुख उपस्थित किया जाता है उस समय की उसकी मानसिक वेदना

उसके इन शब्दों से स्पष्ट प्रकट होती है—'सम्राट्! मुझे वध की आज्ञा दीजिए, ऐसे नीच के लिए और कोई दंड नहीं है×××जितनी यंत्रणा से यह पापी प्राण निकाला जाय, उतना ही उत्तम होगा×××दुहाई सम्राट् की! मुझे वध की आज्ञा दीजिए, नहीं तो आत्महत्या करूँगा। ऐसे देवता के प्रति मैंने दुराचार किया था। ओह!' इस प्रकार वह अपने पूर्व कुकर्मों के प्रति ग्लानि प्रकट करता है। भटार्क की कुमंत्रणा में पड़कर वह कितना गिरा इसका विचार उठते ही प्रश्चात्ताप से वह व्यथित हो उठता है और अपनी नीचता के विरुद्ध स्कंद और महादेवी देवकी की क्षमा से आपूर्ण उदारता देखकर विह्वल हो उठता है। देवकी के पैर पर गिरकर कहता है—'माँ! मुझे क्षमा करो, मैं मनुष्य से पशु हो गया था। अब तुम्हारी ही दया से मैं मनुष्य हुआ। आशीर्वाद दो जगद्धात्रि! कि मैं देव चरणों में आत्मबलि देकर जीवन सफल करूँ'। सच्ची ग्लानि से प्रेरित उसकी वह भावना अंत तक स्थिर बनी रहती है। उसके चरित्र की यही उच्चावचता सुंदर है। अंतर्वेद के विषयपति के रूप में वह साम्राज्य की सेवा करता है। हूणों के द्वारा अपने प्रांत को पादाक्रांत पाकर वह क्षुब्ध हो जाता है। इसी तरह स्कंद की सेवा में लगा हुआ अंत में साम्राज्य की सफलता भी देख लेता है।

### अनंतदेवी

वृद्धस्य तरुणी भार्या अनंतदेवी उग्र स्वभाव की है; निर्भीक होकर साहस के साथ षड्यंत्र की रचना में पटु है। महत्त्वाकांक्षा

के संमुख मर्यादा के उल्लंघन में भी नहीं हिचकती। देवकी को महादेवी और राजमाता होने का जो सौभाग्य मिला इस विधि के विधान से वह असंतुष्ट है, वह महत्त्वपूर्ण पद स्वयं चाहती है। इसके लिए सब कुछ करने को तत्पर है। उसने निश्चय कर लिया है कि—'अपनी नियति का पथ मैं अपने पैरों चलूँगी'। इस चलने में वह अच्छी तरह जानती है कि अनेक भयानक स्थितियों में पड़ना होगा परन्तु उसका विश्वास है—'क्षुद्र हृदय—जो चूहे के शब्द से भी शंकित होते हैं, जो अपनी साँस से ही चौंक उठते हैं, उनके लिए उन्नति का कंटकित मार्ग नहीं है। महत्त्वाकांक्षा का दुर्गम स्वर्ग उनके लिए स्वप्न है'। उसे केवल एक बात की लालसा है। वह पुरगुप्त को सिंहासन पर बैठाकर स्वयं गुप्तसाम्राज्य का शासन करना चाहती है। परन्तु व्यावहारिक बाधाओं के कारण उसे शंका बनी रहती है। वह भटार्क को समझाती है—'देवकी का प्रभाव जिस उग्रता से बढ़ रहा है, उसे देखकर मुझे पुरगुप्त के जीवन की शंका हो रही है' और साधनरूप में वह भटार्क और प्रपंचबुद्धि को अपनाती है। वह भटार्क को इसी अभिप्राय से गुप्तसाम्राज्य का महाबलाधिकृत बनने में सहायता देती है और इस सहायता के द्वारा उस शक्तिशाली पुरुष को खरीद लेती है।

वह बड़ी ही व्यवहारकुशल है। अवसर पर अत्यंत कटु और कठोर बन जाती है, साथ ही स्थिति प्रतिकूल होने पर अत्यंत विनम्र एवं दीन भी बन सकती है। जहाँ एक ओर शर्वनाग को भयभीत करने के लिए कहती है—'सौगंद है। यदि विश्वासघात

करेगा तो कुत्तों से नुचवा दिया जायगा' और महादेवी से कहती है—'परंतु व्यंग की विष-ज्वाला रक्तधारा से भी नहीं बुझती देवकी ! तुम मरने के लिए प्रस्तुत हो जाओ', वहीं दूसरी ओर स्कंद जिस समय शर्वनाग और भटार्क को परास्त करके इसकी ओर घूमता है और पूछता है—'मेरी सौतेली माँ। तुम × ×' उस समय तुरंत घुटनों के बल बैठकर हाथ जोड़ती हुई वह कहती है—'स्कंद ! फिर भी मैं तुम्हारे पिता की पत्नी हूँ'। इसी प्रकार सही, किसी तरह जान तो बचे, जिससे इष्ट-साधन का अवसर मिल सके। इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी उसका यह शीतोष्ण वैचित्र्य दिखाई पड़ता है। विजया को पहले तो पुरगुप्त के साथ सिंहासन पर बैठने का प्रलोभन देती है फिर उसमें विरोध का भाव पाकर उग्र होकर कहती है—'इतना साहस ! तुच्छ स्त्री ! तू जानती है कि किसके साथ बात कर रही है × × मैं हूँ अनंत-देवी ! तेरी कूटनीति के कंटकित कानन की दावाग्नि, तेरे गर्वशैल-शृंग का वज्र, मैं वह आग लगाऊँगी, जो प्रलय के समुद्र से भी न बुझे'। इस ढंग से विजया को आतंकित कर देती है। परन्तु वही अनंतदेवी जिस समय नाटक के अंत में पुरगुप्त के साथ बंदी-वेश में संमुख लाई जाती है उस समय अत्यंत सरल और दीन रूप बना लेती है—'क्यों लज्जित करते हो स्कंद ! तुम भी तो मेरे पुत्र हो × × मुझे क्षमा करो सम्राट्।

**अन्य पात्र**

नाटक के इन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त भी जो अन्य पात्र हैं

वे व्यक्तित्व पूर्ण हैं। सबों के साथ अपनी-अपनी चरित्र-संबंधी विशेषताएँ लगी हैं। अनंतदेवी के हाथ का कठपुतला पुरगुप्त भी पहले एक सजग व्यक्ति था। कुमारगुप्त के निधन के उपरांत वह जिस अधिकार भरे स्वर में बोलता है उससे उसकी पद-मर्यादा झलकती है—'भटार्क ! यह सब क्या हो रहा है ××× चुप रहो। तुम लोगों को बैठकर व्यवस्था नहीं देनी होगी। उत्तराधिकार का निर्णय स्वयं स्वर्गीय सम्राट् कर गए हैं ×××'महाबलाधिकृत ! इन विद्रोहियों को बंदी करो'। वही पीछे चलकर अनंतदेवी की महत्त्वाकांक्षा का एक क्षुद्र अस्त्र भर रह जाता है और घोर मद्यप बन जाता है। यों तो साम्राज्य की विजय पर उसे भी गर्व होता है—'विजय पर विजय ! देखता हूँ कि एक बार वंक्षुतट पर गुप्त-साम्राज्य की पताका फिर फहरायगी। गरुड़ध्वज वंक्षु के रेतीले मैदान में अपनी स्वर्ण-प्रभा का विस्तार करेगा'। परंतु वह 'निर्वीर्य, निरीह बालक !' गर्व करने के अतिरिक्त कर ही क्या सकता है। संपूर्ण नाटक में उसका चरित्र अनंतदेवी के चंगुल से बाहर कहीं स्वतंत्र रूप में खड़ा नहीं होने पाता।

**चक्रपालित** सच्ची सैनिक प्रवृत्ति का युवक है—स्पष्टवादी, निर्भीक और सीधा। 'हृदय की बातों को राजनीतिक भाषा में व्यक्त करना चक्र नहीं जानता'। देश की संमान-रक्षा में सदैव स्कंद के साथ लगा रहता है। **मातृगुप्त** कोमल वृत्ति का भावुक कवि है। अपनी कल्पनाओं का मधुर आस्वादन करता हुआ युवराज के साथ देशकल्याण में लगा रहता है। देश के उज्ज्वल

भविष्य का ध्यान उसे सदैव बना रहता है। उसने सोचा था कि 'देवता जागेंगे, एक बार आर्यावर्त में गौरव का सूर्य चमकेगा × × उद्बोधन के गीत गाए, हृदय के उद्गार सुनाए' और सारे संकट में। यथाशक्ति राष्ट्र के कल्याण में लगा रहता है। सिंहल का राजकुमार कुमारदास (धातुसेन) विलक्षण बुद्धि का युवक और भारत-गौरव का अनन्य प्रेमी है। समय-समय पर स्कंदगुप्त की सहायता के लिए तत्पर दिखाई पड़ता है। सिंघल का अपना राज्य उसे उतना प्रिय नहीं है जितना भारत का कल्याण—"भारत समग्र विश्व का है और संपूर्णवसुंधरा इसके प्रेम-पाश में आवद्ध है' × × × 'भारत के कल्याण के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है' इत्यादि वचनों से उसका भारतवर्ष के प्रति ममत्व प्रकट होता है। उसकी प्रकृति उदार है। साम्राज्य के विरुद्ध खड़े हुए बौद्धसंघों को अनुकूल बनाने में वह योग देता है और गिरी हुई दशा में देव को विजयी बनाने में भी साथ-साथ लगा रहता है। इसी तरह स्त्री-पात्रों में महादेवी **देवकी** की पतिभक्ति और स्कंद के प्रति वात्सल्य के साथ-साथ असीम दयालुता और क्षमाशीलता उसके व्यक्तित्व की विशिष्टता है। **रामा** की सद्भावना-भरी सहायता, उग्रता के साथ चरित्र की दृढ़ता, निर्भीक होकर सत् का पक्ष ग्रहण करना इत्यादि विशेषताएँ उसके स्वरूप को सुन्दर बना देती हैं। भटार्क के सुधारने में **कमला** का भर्त्सना-भरा विवेक अच्छा दिखाई पड़ता है।

### रस का विवेचन

भारतीय नाट्य-विवेचना की पद्धति में रस का विचार आव-

श्यक होता है। नाट्य-रचना के अन्य तत्त्व साधन हैं और रस-निष्पत्ति साध्य है। 'स्कंदगुप्त' में यों तो व्यक्त प्राधान्य युद्ध-वीर और त्यागवीर रसों का है परंतु आरंभ और पर्यवसान शांत में ही होता है। जैसे युवराज स्कंदगुप्त के चरित्र में द्विविध रूप दिखाई पड़ता है उसी प्रकार रस-पक्ष में भी दो धाराएँ हैं। संपूर्ण इतिवृत्त और घटनाव्यापारों के विचार से प्रस्तुत नाटक शोक-पर्य-वसायी नहीं माना जा सकता, स्कंदगुप्त के संमुख व्यक्त लक्ष्य केवल एक है—आर्यराष्ट्र के गौरव की रक्षा अथव विचलित हुई गुप्तकुल की श्रीलक्ष्मी का पुनरस्थापन। अतः उसके जीवन का प्रमुख अंश साम्राज्य की क्षुब्ध एवं असंरक्षित स्थिति को सँभालने में व्यतीत होता है। उसका सामाजिक रूप राष्ट्र के ही नियंत्रण में लगा दिखाई पड़ता है। वह जिस फलप्राप्ति में तत्पर है वह आक्रमणकारियों से मुक्त करके देश को निरापद बनाना है, गृह-कलह को शांत करना है और उन अन्य किरणों का उन्मूलन है जिनसे राष्ट्र की हानि होने की संभावना है। यदि अंत में उसने इन ध्येयों की प्राप्ति कर ली है तो नाटक पूर्णतः सुखांत है। उसने अवश्य ही अखंड पुरुषार्थ के बल पर अपनी फल-प्राप्ति की है। आरंभ में जिस फल को ध्यान में रखकर वह चला है, जिसके लिए अनेक प्रयत्न किए हैं वह क्रमशः प्राप्त्याशा और नियताप्ति के मार्ग से उसे प्राप्त हो गया है। उसका जीवन और जीवन के नाना व्यापार सफल हैं। इस आधार पर स्कंदगुप्त नाटक सुख-पर्यवसायी ही माना जायगा।

नाटक के अंतिम दृश्य ने रस-संबंधी एक प्रश्न खड़ा कर दिया

है, जिसके कारण प्रायः विवाद चल पड़ता है। खिंगिल पर विजय प्राप्त करके और पुरगुप्त को रक्त का टीका लगाकर स्कंदगुप्त ने पूर्ण फल की प्राप्ति जब कर ली तब उसके उपरांत एक दृश्य और बढ़ाकर जो देवसेना के कथोपकथन से नाटक की समाप्ति दिखाई गई है उससे वीररस की अखंड निष्पत्ति में हलका सा व्याघात पड़ता है। साथ ही 'अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है' इत्यादि निर्वेदात्मक वचनों में विरक्ति-भावना से समन्वित समारम्भ के कारण यह भ्रांति हो सकती है, कहीं शांत रस की प्रधानता न दिखाई गई हो। इसके अतिरिक्त यदि शांत रस का पक्ष लिया जाय तो उसके अन्य आवश्यक उपादान भी एकत्र किए जा सकते हैं। आरंभ में ही बुद्धि और स्थिति-जन्य जो विराग और निर्वेद स्कंद में दिखाई पड़ता है उसका आलंबन है गृह-कलह और अनंतदेवी एवं भटार्क का महत्त्व-लोभ तथा अधिकार-लिप्सा। उद्दीपन के रूप में विजया का स्कंदगुप्त की ओर से हटना और भटार्क की मंडली में योग देना, भटार्क की प्रतारणा और गिरिव्रज की पराजय है। 'बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की सी संपूर्ण विस्मृति मुझे एक साथ ही चाहिए × × × ओह! जाने दो गया, सब कुछ गया × × × कर्तव्य विस्मृत भविष्य अंधकारपूर्ण लक्ष्यहीन दौड़ और अनंत सागर का संतरण है। × × × आर्य-साम्राज्य की हत्या का कैसा भयानक दृश्य है। कितना बीभत्स! सिंहों की विहारस्थली में शृगाल-वृंद सड़ी लोथ नोच रहे हैं × × × आह! मैं वही स्कंद

हूँ अकेला निस्सहाय।' इत्यादि वचन अनुभाव हैं। चिंता, निर्वेद दीनता आदि संचारी हैं।

फिर भी उक्त सभी उपादानों के संयोग से शांत रस की निष्पत्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि स्कंदगुप्त की आद्यंत कर्मवीरता के अखंड साम्राज्य में समष्टि-प्रभाव शांत के पक्ष में हो ही नहीं सकता। समय-समय पर जो स्थिति-प्रेरित उक्त बातें हैं वे स्कंद के अंतर्द्वंद्व और चरित्र की विषमता की द्योतक हैं। वर्तमान पाश्चात्य प्रणाली से प्रभावित चरित्र की उच्चावचता अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति के कारण ही यह अनंग-कीर्तन[1] हो गया है, और इसीलिए नाटक में शांत रस का आभास दिखाई पड़ता है। यदि शुद्ध भारतीय पद्धति से विचार किया जाय तो अंतिम दृश्य सर्वथा निरर्थक ठहरता है उससे रस में व्याघात पड़ता है। जितने विषय उस दृश्य में आए हैं उनका यथाप्रसंग संचित रूप इसके पूर्व ही मिल जाता है। अतएव उस दृष्टि से भी उस दृश्य की आवश्यकता नहीं है। देवसेना और स्कंद के उस संवाद से कोई नई विशेषता नहीं प्रकट होती। एक प्रकार से उसमें पूर्व-प्रसंगों की प्रतिध्वनि मात्र मिलती है। उस दृश्य में भी चरित्रगत विलक्षणता की वही यथार्थ झलक दिखाई देती है जो स्कंद और देवसेना, में कई पूर्व अवसरों पर प्राप्त हो चुकी है।

उत्साह एक स्थायी भाव है जो बहुमुखी स्थितियाँ उत्पन्न

---

१ अंगिनोऽननुसन्धानमनंगस्य च कीर्तनम्।—साहित्यदर्पण, परिच्छेद ७, श्लोक १४।

करता है। जैसे वह शूर में अपना प्रभाव दिखाता है वैसे ही दानी और दयालु में भी अपना महत्त्व प्रदर्शित करता है। स्कंदगुप्त नाटक में इसी उत्साह का सुंदर प्रसार दिखाई पड़ता है। कृतिकार की क्रियाशक्ति के द्वारा प्रधान पात्र में अभिव्यंजित स्थायी भाव—उत्साह—सामाजिकों और दर्शकों के हृदय में संस्कार रूप से स्थित उत्साह से अभिन्न होकर, साधारणीकृत होकर, जब पूर्णरूप से प्रकाशित हो उठता है तभी सकल-सहृदयता-आनंद-स्वरूप वीररस की अनुभूति होती है। प्रस्तुत नाटक में दर्शक की संपूर्ण वृत्तियाँ स्कंद में ही रमती हैं, उसी के साथ नाना स्थितियों एवं घटनाओं के प्रवाह में बहती चलती हैं। अतएव उसी की अनुभूतियों का साधारणीकरण सामाजिकों की अनुभूतियों से होता है। स्कंद का सारा जीवन वीरतापूर्वक राष्ट्र के उद्धार में व्यतीत हुआ है। उत्साह से प्रेरित उसका सारा वृत्त जिस अलब्ध उद्देश्य की पूर्ति में फैला दिखाई पड़ता है वह वीरता की ही सच्ची कहानी का चरम फल है। इस प्रकार नाटक में प्रधान रस वीर ही है—अपने विरोधी-अविरोधी समस्त अंगरसों के साथ।

'विभावनुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'—नाट्यशास्त्र ने इन चारों अवयवों के संयोग में ही रस की पूर्णता मानी है। प्रस्तुत नाटक में इनकी पूरी-पूरी संयोजना दिखाई पड़ती है। स्कंदगुप्त आश्रय है उसमें उत्साह स्थायी भाव वर्तमान है। उसकी उदात्त चरितावली में यह स्थायी भाव बड़ा ही उज्ज्वल हो उठा

है। दूत! ××× शरणागत-रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है ××× अकेला स्कंदगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए संनद्ध है। जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कंदगुप्त के जीते जी मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा।' इत्यादि उद्गार उसके उत्साह के ही अभिव्यंजक हैं। उत्साह विरोध सहन नहीं करता, अतएव प्रतिद्वंद्वियों को देखकर वह उग्र हो उठता है। स्कंद के उत्साह के लिए अंतःकलह के उत्पादक भटार्क और अनंतदेवी और राष्ट्र के शत्रु पुष्यमित्र, शक तथा हूण ही आलंबन हैं। अनेक समरों के विजेता, महामानी, गुप्त साम्राज्य के महाबलाधिकृत अब इस लोक में नहीं हैं। इधर प्रौढ़ सम्राट् के विलास की मात्रा बढ़ गई है। बिजली गिरने से पूर्व जिस प्रकार नील कादंबिनी का मनोहर आवरण महाशून्य पर चढ़ जाता है, क्या वैसी ही दशा गुप्त-साम्राज्य की नहीं है। कपिशा को श्वेत हूणों ने पदाक्रांत कर लिया है। अबकी बार पुष्यमित्रों का अंतिम प्रयत्न हैं। वे अपनी समस्त शक्ति संकलित करके बढ़ रहे हैं। इतना ही नहीं, शक राष्ट्रमंडल चंचल हो रहा है, नवागत म्लेच्छ-वाहिनी से सौराष्ट्र भी पदाक्रांत हो चुका है, इसी कारण पश्चिमी मालव भी अब सुरक्षित न रहा—आदि राजनीतिक परिस्थितियाँ और अनंतदेवी का षड्यंत्र तथा समस्त उत्तरापथ के धर्मसंघों का गुप्त विरोध उद्दीपन विभाग के अन्तर्गत आते हैं।

अनुभाव के अंतर्गत वे समस्त कार्य-व्यापार रखे जायँगे जो इस अखंड उत्साह के परिणाम हैं—मालव, गिरिव्रज और अंत का

युद्ध, मालव-सिंहासन की स्वीकृति, मातृगुप्त को काश्मीर का शासक नियुक्त करना। इनके अतिरिक्त देवकी और देवसेना की रक्षा, सब बंदियों और विद्रोही विरोधियों को क्षमा इत्यादि सभी व्यापारों के मूल में उत्साह ही है, अतः ये सब उसी के अनुभाव हैं। संपूर्ण नाटक के साथ संचरण करनेवाले संचारियों की विविधता दिखाई पड़ती है। धृति—'ध्यान रखना होगा कि राजधानी से अभी कोई सहायता नहीं मिलती। हम लोगों को इस आसन्न विपद् में अपना ही भरोसा है' के अनेक सुंदर और भव्य रूप मिलते हैं। दृढ़तापूर्वक सावधान रहना स्कंद की अपनी विशेषता थी। धृति की ही भाँति स्थान-स्थान पर गर्व, चिंता, उत्सुकता, आवेग, विषाद, ग्लानि इत्यादि अन्य संचारियों का भी समावेश होता गया है। इस प्रकार वीररस के सभी उपादानों का संयोग स्वयं उपस्थित हो गया है और नाटक में रस-निष्पत्ति पूरी-पूरी हुई है। युद्धवीर के साथ-साथ दानवीर का भी अच्छा समन्वय है। स्कंद ने जिस साम्राज्य की सिद्धि अपने अपार पौरुष के बल पर प्राप्त की थी और जिस राष्ट्र के निरापद बनाने में उसने अपना संपूर्ण जीवन उत्सर्ग कर दिया था उसी को एक क्षण में उसने पुरगुप्त को दान कर दिया। इस प्रकार अंत में युद्ध और दान-वीरता की जो अन्विति दिखाई पड़ती है वही रस-दशा का परमोत्कर्ष है। इस महात्याग और महादान का प्रेरक प्रधानतः उत्साह ही है। अतः सहयोगी रूप में दानवीर की अभिव्यंजना सर्वथा अभिमत है।

## विशेषता

प्रस्तुत नाटक में 'प्रसाद' की पद्धति ने एक विशेष ढंग पकड़ा है। यह विशेषता भारतीय एवं पाश्चात्य शैलियों के समन्वय में दिखाई पड़ती है। पाश्चात्य शास्त्रियों ने नाटक की मौलिक विशिष्टता दो बातों में मानी है—'कार्य' और 'द्वंद्व'। इस नाटक में नाटकीय सक्रियता आद्यंत जागरित बनी रहती है। प्रथम दृश्य में राष्ट्रीय समस्याओं के परिचय के साथ-साथ उनके सुलझाने का प्रयत्न भी आरंभ हो जाता है। मालव की सहायता के लिए स्कंद बद्धपरिकर होता है। अंत तक युद्ध, चेष्टा, प्रयत्न, षड्यंत्र, विरोध और दमन के ही व्यापार चलते रहते हैं और आक्रमणकारियों की पराजय से नाटक की समाप्ति होती है। इस सक्रियता के प्रसार का मुख्य कारण द्वंद्व और संघर्ष होता है। इस नाटक में संघर्ष का ही प्राधान्य है, जो कि दो रूपों में दिखाई पड़ता है, व्यक्तिगत और वर्गगत। व्यक्तिगत द्वंद्व का सुंदर स्वरूप स्कंदगुप्त एवं देवसेना में मिलता है और वर्गगत द्वंद्व तो प्रत्यक्ष ही है। षड्यंत्रकारियों का राजनीतिक तथा पारिवारिक संघर्ष स्कंदगुप्त और साम्राज्य के विरोध में है। इस विरोध की उग्रता धर्मसंघों के कारण और भी प्रदीप्त होती है। इस पारिवारिक राजनीति तथा धार्मिक कुचक्रों के बल पर ही विदेशी आक्रमणकारी सफलतापूर्वक उपद्रव खड़ा कर सके हैं। इसके अतिरिक्त पति-पत्नी, भाई-भाई, माता-पुत्र, सखी-सखी, स्वामी-सेवक इत्यादि का संघर्ष भी चलता ही है। इस प्रकार पाश्चात्य मानदंड से यह रचना प्रभावोत्पादक

और सर्वथा सफल है। संघर्ष और सक्रियता ही इस नाटक के प्राण हैं। इस संघर्ष को लेकर विचार करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि नाटक के तृतीय अंक की समाप्ति पाश्चात्य चरमसीमा के रूप में हुई है। साथ-साथ में व्यक्तित्व-चित्रण की ओर जो विशेष ध्यान दिया गया है वह भी पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्यवाद के ही अनुकूल है। फल-प्राप्ति के उपरांत भी एक दृश्य जो आगे बढ़ाकर नाटक की समाप्ति दिखाई गई है, उसके मूल में यही व्यक्तित्व-चित्रण की प्रेरणा लक्षित होती है।

नाट्यशास्त्र के भारतीय पंडितों ने नाटक की सृष्टि के तीन ही मुख्य उपादान माने हैं—वस्तु, नेता और रस। इसमें वस्तु एवं नेता के योग से रस-निष्पत्ति ही लक्ष्य है। नाटक का वृत्त ख्यात, इतिहास-प्रसिद्ध है ही। साथ ही नायक उदात्त चरित्र का है। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी इत्यादि का सुंदर रूप में संयोग होने से वीररस की निष्पत्ति भी हो गई। संपूर्ण कृति में समष्टि-प्रभाव प्राप्त होता है। नाटक के आवश्यक सभी विषय इस रचना में मिल जाते हैं। इस प्रकार पाश्चात्य एवं भारतीय दोनों विचारों से स्कंदगुप्त नाटक उत्त